(१) पुस्तक मिलनेका पताः

शा देवीचन्द चुनीलाल महेता
ठि: महेता स्ट्रीट
मु: गढ़सिवाना (राजस्थान)

(२) फर्म का पता

शा चुनीलाल हरमानचन्द
४८५ रेवडीबजार
पोस्ट रेलवेपुरा, अहमदाबाद २

स्वर्गस्थ पूज्य पिताश्री देवीचंदजी खुबचंदजी महेता.
तथा स्वर्गस्थ मातुश्री गंगाबाईना पुण्य स्मरणार्थे भेट।

मुद्रक : मणिलाल छगनलाल शाह मुद्रणस्थान : श्री नवप्रभात
प्रिन्टिंग प्रेस, घीकांटा रोड अहमदाबाद

प्रस्तावना

संसार के समस्त प्राणी सुख के अभिलाषी हैं। सुख दो तरह का है—वैषयिक (सांसारिक) सुख और आत्मिक (आध्यात्मिक) सुख। वैषयिक सुख, दुःख मिश्रित एवं दुःखमूलक होने के कारण वह ज्ञानियों की दृष्टि में सुखरूप नहीं, अपितु दुःखरूप ही है, अतएव वह हेय है। मुमुक्षु जीव ऐसे सुख के अभिलाषी नहीं होते अपितु वे तो आत्मिक सुख के अभिलाषी होते हैं, वे आत्मिक सुख की ही चाह और गवेषणा करते हैं। उस आत्मिक सुखकी प्राप्तिका मूल उपाय सम्यक्त्व है। मिथ्यात्व दशामें अनन्त काल तक भी इस संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव को आत्मिक सुख की प्राप्ति नहीं होती जब कि सम्यक्त्व का वह माहात्म्य है कि जीव को उसका स्पर्शमात्र भी हो जाय तो वह अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल के अन्दर अन्दर अक्षय अव्याबाध अनन्त आत्मिक सुखों को प्राप्त कर ही लेता है। मनुष्यत्वादि चार अङ्गों की दुर्लभता बताते हुए शास्त्रकार ने सम्यक्त्व की भी दुर्लभता बतलाई है। अत एव भव्यात्माओं को सर्व प्रथम सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए महान् प्रयत्न एवं पुरुषार्थ करना चाहिए। उस सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाते हुए वाचकमुख्य श्री उमास्वाति ने तत्वार्थ सूत्र में कहा है—

'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'

अर्थात्—तत्त्वों का यथार्थ रूप से निश्चय करना सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व है। वे तत्त्व कौन से हैं? इसके लिए कहा गया है—

जीवाजीवा य बंधोय, पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो णिज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया णव॥

अर्थ—जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये नव तथ्यतत्त्व हैं। (उत्तरा. अ० २८ गाथा १४)

इन तत्त्वों के जानने का फल क्या है? इसके लिए कहा गया है—

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं॥

अर्थ—जीव, अजीव आदि उपर्युक्त नव तत्त्व हैं। मुमुक्षु जीवोंको इनका वास्तविक स्वरूप समझ कर इन पर भावपूर्वक श्रद्धान करना आवश्यक है। इसी श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं।

तत्त्वश्रद्धान रूप सम्यक्त्व दो प्रकार से प्राप्त होता है—

(१) किसी दूसरे के उपदेश के बिना ही और (२) दूसरे के उपदेश से। प्रथम प्रकार का सम्यक्त्व निसर्गज सम्यक्त्व कहलाता है और दूसरे प्रकार का सम्यक्त्व अधिगमज कहलाता है। निसर्गज और अधिगमज दोनों प्रकार के सम्यक्त्व में तत्त्वश्रद्धान समान है। अतः प्रत्येक मुमुक्षु प्राणी के लिए आवश्यक ही नहीं अपितु परमावश्यक प्रथम कर्तव्य है कि वह इन नव तत्त्वों का स्वरूप भलिभांति समझ कर उन पर पूर्ण श्रद्धा करे जिससे वह स्वल्पकाल में ही अनन्त अव्याबाध शाश्वत आत्मिक सुखों का स्वामी बन जाय।

यह पुस्तक लिखकर तैयार करनेकी प्रेरणा समाज के प्रखर व्याख्याता, आगम मर्मज्ञ सुश्रावक श्री रतनलालजी डोशी और प्रकाशक महोदय की ओरसे मिली, जिस पर यह पुस्तक पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत की है इसमें नवतत्त्वों का निरूपण, विवेचन आदि कैसा हुआ है, इसका निर्णय तो सुज्ञ पाठक ही करेंगे. मैं तो पाठकवृंद से इतना ही निवेदन करना चाहता हूं कि वे इससे नव तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करें, इसीमें मेरे इस अल्प प्रयासकी सार्थकता एवं सफलता है।

—लेखक

મહેતા ચુનીલાલજી દેવીચંદજી મોકા
ગઢસિવાનાવાળા તરફથી ભેટ.

મહેતા ચુનીલાલજી મોઠાના ધર્મપત્ની
શ્રીમતી ઉજમબાઈ તરફથી ભેટ.

नवतत्त्व

(विस्तृत अर्थसहित)

प्र० तत्त्व किसे कहते हैं ?

उ० वस्तु के वास्तविक स्वरूप को तत्त्व कहते हैं।

प्र० तत्त्व कितने हैं ?

उ० जीवा जीवा पुण्णं, पावासव संवरो य णिज्जरणा।
बंधो मुक्खो य तहा, नव तत्ता हुंति णायव्वा ॥१॥

अर्थ—तत्त्व नौ हैं। वे इस प्रकार हैं। १ जीव, २ अजीव, ३ पुण्य, ४ पाप, ५ आस्रव, ६ संवर, ७ निर्जरा, ८ बन्ध, ९ मोक्ष।

प्र० जीव किसे कहते हैं ?

उ० जिसमें उपयोग अर्थात् ज्ञानशक्ति हो उसे जीव कहते हैं। वह सुख, दुःख, पुण्य और पापका कर्ता (करनेवाला) और भोक्ता (भोगनेवाला) है। वह अतीत (भूतकाल) अनागत (भविष्यतकाल) वर्तमान तीनों काल में सदा शास्वत रहता है। वह अमर है, उसका कभी विनाश नहीं होता है।

प्र० अजीव किस को कहते हैं ?

उ० जो चैतन्यरहित अर्थात् जड हो उसे अजीव कहते हैं। उसे सुख दुःख कुछ नहीं होता है। वह पुण्य पाप का कर्ता और भोक्ता नहीं होता है।

प्र० पुण्य किसे कहते हैं ?

उ० जिसके उदय से जीव को सुख की प्राप्ति हो तथा जिससे आत्मा पवित्र बने उसे पुण्य कहते हैं। पुण्य की प्रकृति शुभ होती है। पुण्य कठिनाई से बांधा जाता है और सुखपूर्वक भोगा जाता है। यह शुभयोगों से बांधा जाता है। पुण्य के फल मीठे (सुखकारी) होते हैं।

प्र० पाप किसे कहते हैं?

उ० जिसके उदय से जीव को दुःख की प्राप्ति हो तथा जो आत्मा के पतन का कारण हो उसे पाप कहते हैं। पापकी प्रकृति अशुभ होती है। यह अशुभ योगों से बांधा जाता है। यह बांधते समय आसानी से बांधा जाता है परन्तु भोगते समय बड़ा दुःखदायी होता है। पाप के फल कडवे होते हैं।

प्र० आस्रव किसे कहते हैं।

उ० जिसके द्वारा कर्म पुद्गल आत्मा के साथ चिपकने के लिये आते हैं अर्थात् जीवरूपी तालाब में कर्मरूपी नालों (पानी के प्रवाहों) से पुण्य और पापरूपी पानी आता है उसे आस्रव कहते हैं।

प्र० संवर किसे कहते हैं?

उ० आस्रव को रोकना संवर कहलाता है अर्थात् जीव रूपी तालाब में कर्मरूपी नालों से आते हुए पुण्य पापरूपी पानी को रोकना संवर कहलाता है।

प्र० निर्जरा किसे कहते हैं?

उ० विपाक (फलभोग) द्वारा अथवा तप संयम द्वारा

देशतः (आंशिक रूप से) कर्मों के क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। जिस प्रकार कपड़े पर लगा हुआ मैल जल से साबुन द्वारा दूर कर दिया जाता है उसी प्रकार जीवरूपी कपडे पर लगे हुए कर्मरूपी मैल को ज्ञानरूपी जल से तप संयम रूप साबुन द्वारा धोकर जीव (आत्मा) को निर्मल बनाना निर्जरा कहलाता है।

प्र० बन्ध किसे कहते हैं?

उ० आस्रव द्वारा आये हुए कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना अर्थात् आत्मा के साथ कर्मों का क्षीरनीर की भांति एकीभूत हो जाना बन्ध कहलाता है।

प्र० मोक्ष किसे कहते हैं?

उ० सम्पूर्ण कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मा का अपने स्वरूप में लीन हो जाना मोक्ष कहलाता है।

प्र० इन नव तत्त्वों में कौन कौन से तत्त्व हेय ज्ञेय उपादेय हैं?

उ० वैसे तो नव ही तत्त्व ज्ञेय हैं क्यों कि ज्ञान किये विना उनका स्वीकार और त्याग नहीं किया जा सकता किन्तु दूसरी अपेक्षा से जीव अजीव और पुण्य ये तीन ज्ञेय हैं अर्थात् जानने योग्य हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीन तत्त्व उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य (आदरने योग्य) हैं। पाप आस्रव और बन्ध ये तीन हेय अर्थात् छोड़ने योग्य हैं

उ० जिसके उदय से जीव को सुख की प्राप्ति हो तथा जिससे आत्मा पवित्र बने उसे पुण्य कहते हैं। पुण्य की प्रकृति शुभ होती है। पुण्य कठिनाई से बांधा जाता है और सुखपूर्वक भोगा जाता है। यह शुभयोगों से बांधा जाता है। पुण्य के फल मीठे (सुखकारी) होते हैं।

प्र० पाप किसे कहते हैं?

उ० जिसके उदय से जीव को दुःख की प्राप्ति हो तथा जो आत्मा के पतन का कारण हो उसे पाप कहते हैं। पापकी प्रकृति अशुभ होती है। यह अशुभ योगों से बांधा जाता है। यह बांधते समय आसानी से बांधा जाता है परन्तु भोगते समय बड़ा दुःखदायी होता है। पाप के फल कडवे होते हैं।

प्र० आस्रव किसे कहते हैं।

उ० जिसके द्वारा कर्म पुद्गल आत्मा के साथ चिपकने के लिये आते हैं अर्थात् जीवरूपी तालाब में कर्मरूपी नालों (पानी के प्रवाहों) से पुण्य और पापरूपी पानी आता है उसे आस्रव कहते हैं।

प्र० संवर किसे कहते हैं?

उ० आस्रव को रोकना संवर कहलाता है अर्थात् जीव रूपी तालाब में कर्मरूपी नालों से आते हुए पुण्य पापरूपी पानी को रोकना संवर कहलाता है।

प्र० निर्जरा किसे कहते हैं?

उ० विपाक (फलभोग) द्वारा अथवा तप संयम द्वारा

उ० जिसके उदय से जीव को सुख की प्राप्ति हो तथा जिससे आत्मा पवित्र बने उसे पुण्य कहते हैं। पुण्य की प्रकृति शुभ होती है। पुण्य कठिनाई से बांधा जाता है और सुखपूर्वक भोगा जाता है। यह शुभयोगों से बांधा जाता है। पुण्य के फल मीठे (सुखकारी) होते हैं।

प्र० पाप किसे कहते हैं?

उ० जिसके उदय से जीव को दुःख की प्राप्ति हो तथा जो आत्मा के पतन का कारण हो उसे पाप कहते हैं। पापकी प्रकृति अशुभ होती है। यह अशुभ योगों से बांधा जाता है। यह बांधते समय आसानी से बांधा जाता है परन्तु भोगते समय बड़ा दुःखदायी होता है। पाप के फल कड़वे होते हैं।

प्र० आस्रव किसे कहते हैं।

उ० जिसके द्वारा कर्म पुद्गल आत्मा के साथ चिपकने के लिये आते हैं अर्थात् जीवरूपी तालाब में कर्मरूपी नालों (पानी के प्रवाहों) से पुण्य और पापरूपी पानी आता है उसे आस्रव कहते हैं।

प्र० संवर किसे कहते हैं?

उ० आस्रव को रोकना संवर कहलाता है अर्थात् जीव रूपी तालाब में कर्मरूपी नालों से आते हुए पुण्य पापरूपी पानी को रोकना संवर कहलाता है।

प्र० निर्जरा किसे कहते हैं?

उ० विपाक (फलभोग) द्वारा अथवा तप संयम द्वारा

देशतः (आंशिक रूप से) कर्मों के क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। जिस प्रकार कपड़े पर लगा हुआ मैल जल से साबुन द्वारा दूर कर दिया जाता है उसी प्रकार जीवरुपी कपडे पर लगे हुए कर्मरूपी मैल को ज्ञानरूपी जल से तप संयम रूप साबुन द्वारा धोकर जीव (आत्मा) को निर्मल बनाना निर्जरा कहलाता है।

प्र० बन्ध किसे कहते हैं?

उ० आस्रव द्वारा आये हुए कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना अर्थात् आत्मा के साथ कर्मों का क्षीरनीभूत हो जाना बन्ध कहलाता हैं।

प्र० मोक्ष किसे कहते हैं?

उ० सम्पूर्ण कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मा का अपने स्वरूप में लीन हो जाना मोक्ष कहलाता है।

प्र० इन नव तत्त्वों में कौन कौन से तत्त्व हेय ज्ञेय उपादेय हैं?

उ० वैसे तो नव ही तत्त्व ज्ञेय हैं क्यों कि ज्ञान किये विना उनका स्वीकार और त्याग नहीं किया जा सकता किन्तु दूसरी अपेक्षा से जीव अजीव और पुण्य ये तीन ज्ञेय हैं अर्थात् जानने योग्य हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीन तत्त्व उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य (आदरने योग्य) हैं। पाप आस्रव और बन्ध ये तीन हेय अर्थात् छोड़ने योग्य हैं

पुण्य की तीन अवस्थाएँ हैं उपादेय, ज्ञेय और हेय। प्रथम अवस्था में जबतक मनुष्यभव, आर्यक्षेत्र आदि पुण्य प्रकृतियां प्राप्त नहीं हुई हैं तबतक के लिए पुण्य उपादेय हैं क्यों कि इन प्रकृतियों के बिना चारित्र की प्राप्ति नहीं होती हैं। चारित्र प्राप्त हो जाने के बाद अर्थात् साधकावस्था में पुण्य ज्ञेय है अर्थात् उस समय न तो मनुष्यत्व आदि पुण्य प्रकृतियों को प्राप्त करने की इच्छा की जाती है और न छोडने की, क्यों कि वे मोक्ष तक पहुँचाने में सहायक हैं। चारित्र की पूर्णता हो जाने पर अर्थात् चौदहवें गुणस्थान की प्राप्ति हो जाने पर वे पुण्य प्रकृतियां हेय हो जाती हैं, क्यों कि शरीर को छोडे बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। सब कर्म प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैसे समुद्र को पार करने के लिये समुद्र के किनारे खडे व्यक्ति के लिये नौका उपादेय है। नौका में बैठे हुए के लिये नौका ज्ञेय है। अर्थात् न हेय और न उपादेय है। दूसरे किनारे पर पहुँच जाने के बाद नौका हेय है, क्यों कि नौका को छोडे बिना दूसरे किनारे पर स्थित अभीष्ट नगर की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसी तरह संसाररूपी समुद्र से पार होने के लिए पुण्यरूपी नौका की आवश्यकता है किन्तु चौदहवें गुणस्थान में पहुँच जाने के पश्चात् मोक्षरूपी नगर की प्राप्ति के समय पुण्य हेय हो जाता है।

प्र० इन नव तत्त्वों में रूपी कितने हैं और अरूपी कितने हैं?

उ० चार रूपी हैं, चार अरूपी हैं और एक मिश्र है। पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध ये चार रूपी (मूर्त) हैं। जीव संवर, निर्जरा और मोक्ष ये चार अरूपी हैं। जीव है तो अरूपी किन्तु संसारी जीव कर्मों से युक्त है अत एव वह शरीर और इन्द्रियों से युक्त है इसलिये रूपी है और सिद्ध जीव आठ कर्मों से मुक्त होने के कारण अरूपी (अमूर्त) है। अजीव तत्त्व के पांच भेद हैं उनमें से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल ये चार तो अरूपी हैं और एक पुद्गलास्तिकाय रूपी है।

प्र० इन नव तत्त्वों में जीव कितने हैं और अजीव कितने हैं?

उ० चार जीव है और पांच अजीव हैं। जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये चार तो जीव हैं और अजीव, पुण्य, पाप आस्रव और बन्ध ये पांच अजीव हैं। निश्चय दृष्टि से तो जीव तत्त्व जीव हैं और अजीव तत्त्व अजीव है, बाकी सात तत्त्व जीव अजीव की पर्याय हैं जैसे कि गीली मिट्टी से गोली बंधती है वैसे ही जीव और अजीव के संयोग से सात तत्त्व उत्पन्न होते हैं।

प्र० इन नव तत्त्वों के कितने भेद हैं?

उ० चउदस चउदस बायालीसा, बासी य हुंति बाया-लासत्तावण्णं बारस चउणव भेया कमेणेसिं ॥ २ ॥

अर्थ—जीव तत्व के चौदह भेद, अजीव तत्त्व के चौदह भेद, पुण्यतत्त्व के बयालीस भेद, पापतत्त्व के बयासी भेद, आस्रवतत्व के बयालीस भेद, संवरतत्व के सत्तावन भेद निर्जरातत्व के बारह भेद, बन्ध तत्त्व के चार भेद और मोक्ष तत्व के नौ भेद हैं।

१ जीवतत्त्व—

अब जीव तत्त्व का विस्तार के साथ विवेचन किया जाता है—

जीव तत्त्व तीन प्रकार से पहचाना जाता है-१ द्रव्य, २ गुण, ३ पर्याय। द्रव्य और गुण सदा एक साथ रहते हैं, कभी भी अलग नहीं होते हैं, जहां द्रव्य रहता है वहां गुण रहता है अर्थात् द्रव्य के आश्रय में गुण रहता है। जिस प्रकार चन्द्रमा की चांदनी उससे कभी अलग नहीं रहती है किन्तु सदा चन्द्रमा के साथ रहती है, पानी की शीतलता सदा पानी के साथ रहती है, अग्नि की उष्णता सदा अग्नि के साथ रहती है उसी प्रकार जीव का उपयोग (ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग) गुण सदा जीव के साथ रहता है। अवस्था का बदलना पर्याय कहलाता है। जीव की अवस्था का बदल जाना एवं जीव का एक गति से दूसरी गति में चला जाना जीव की पर्याय कहलाता है।

सामान्य रूप से जीव के चौदह भेद हैं। किन्तु अपेक्षा विशेष से जीव के भेद एक से लेकर चौदह तक होते हैं।

जैसे कि–सभी जीव उपयोग गुण (चेतना गुण) वाले हैं। इसलिए उपयोग गुण की अपेक्षा जीव का भेद एक है। जीव के भेद दो हैं–सिद्ध और संसारी। अथवा संसारी जीव की अपेक्षा से जीव के दो भेद हैं–त्रस और स्थावर।

जीव के भेद तीन हैं–(वेद की अपेक्षा) १ स्त्रीवेद, २ पुरुष वेद, ३ नपुंसक वेद। जीव के भेद चार हैं (गति की अपेक्षा) १ नरक, २ तिर्यञ्च, ३ मनुष्य, ४ देव,। जीव के भेद पांच हैं (इन्द्रिय की अपेक्षा) १ एकन्द्रिय, बेइन्द्रिय, ३ तेइन्द्रिय, ४ चौइन्द्रिय, ५ पञ्चेन्द्रिय। जीव के भेद छह हैं (काया की अपेक्षा) १ पृथ्वीकाय, २ अप्काय, ३ तेउकाय, ४ वायुकाय, ५ वनस्पतिकाय, ६ त्रसकाय, जीवके सात भेद हैं—१ नरक, २ तिर्यञ्च, ३ तिर्यञ्चणी, ४ मनुष्य, ५ मनुष्यणी (मनुष्य स्त्री), ६ देव, ७ देवाङ्गना (देवी)। जीवके आठ भेद हैं–चार गति का पर्याप्त जीव और चार गति का अपर्याप्त जीव। जीव के नव भेद हैं—१ पृथ्वीकाय, २ अप्काय, ३ तेउकाय, ४ वायुकाय, ५ वनस्पतिकाय, ६ बेइन्द्रिय, ७ तेइन्द्रिय, ८ ८ चौइन्द्रिय, ९ पञ्चेन्द्रिय। जीव के दस भेद हैं–एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय, इन पांच का पर्याप्त और अपर्याप्त। जीवके ग्यारह भेद है–उपरोक्त दस भेद और ग्यारहवां भेद—अतिन्द्रिय (इन्द्रियरहित–सिद्ध भगवान्) जीवके बारह भेद हैं–पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन छह काय के पर्याप्त

और अपर्याप्त। जीव के तेरह भेद हैं-काया के उपरोक्त बारह भेद और तेरहवां भेद है-अकायिक(अशरीरी सिद्ध भगवान्) जीव के चौदह भेद हैं—

एगिंदिय सुहुमियरा, सण्णीयर पंचिंदिया य सबितिचउ।
अपज्जत्ता पज्जत्ता, कमेण चउदस जीयठाणा ॥ ३ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय के दो भेद-सूक्ष्म और बादर। इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त। इस प्रकार एकेन्द्रिय के चार भेद। ५-६ बेइन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त। ७-८ तेइन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त। ९-१० चौइन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त। पञ्चेन्द्रिय के दो भेद-संज्ञी पञ्चेन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त। इस प्रकार ११ संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त, १२ संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त, १३ असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त और १४ असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त। इस प्रकार सामान्य रूपसे जीव के चौदह भेद हैं।

प्र० त्रस किसे कहते हैं?

उ० त्रास एवं भय तथा सर्दी गर्मी आदि से अपना बचाव करने के लिए जो जीव एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकते हैं, चल फिर सकते हैं, वे जीव नाम कर्म के उदय से त्रस कहलाते हैं। जैसे-बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय।

प्र० स्थावर किसे कहते हैं?

उ० जो जीव त्रास, भय, सर्दी, गर्मी आदि से अपना

बचाव करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकते हैं, चल फिर नहीं सकते हैं वे जीव स्थावर नाम कर्म के उदय से स्थावर कहलाते हैं। जैसे-एकेन्द्रिय जीव, पृथ्वी-काय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय।

प्र० सूक्ष्म एकेन्द्रिय किसे कहते हैं?

उ० जो एकेन्द्रिय जीव अनन्त जीवों के समुदाय में इकट्ठे होने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, सिर्फ केवली भगवान् ही अपने केवलज्ञानसे उनको देख सकते हैं। उनको काटने से वे कटते नहीं, छेदने से छिदते नहीं, भेदने से भिदते नहीं, मारने से मरते नहीं, न तो उनको अग्नि जला सकती है, न वायु हिला सकती है। कोई भी चीज उन को आघात (टक्कर) नहीं पहुंचा सकती और न वे किसी को आघात पहुंचाते हैं। वे किसी भी प्राणी के काम में नहीं आते। वे निकाचित कर्म से बन्धे हुए हैं। जिस प्रकार कुप्पी में (डिब्रिया में) काजल ठसाठस भरा रहता है, उसी प्रकार वे सूक्ष्म जीव चौदह राजु (रज्जु) परिमाण सम्पूर्ण लोकाकाशमें ठसाठस (खचाखच) भरे हुवे हैं। वे जीव सूक्ष्म नाम कर्म के उदय से सूक्ष्म कहलाते हैं। वे पृथ्वीकाय आदि पांचों कायों में हैं।

प्र० बादर किसे कहते हैं?

उ० जो काटने से कट जाते हैं, मारने से मर जाते हैं, छेदने से छिद जाते हैं, भेदने से भिद जाते हैं, जो छद्मस्थ से

भी दृष्टिगोचर होते है, जिनकी गति में रुकावट हो सकती है और जो दूसरों के लिए भी रुकावट के कारण बनते हैं, जो सर्वलोक में व्याप्त नहीं हैं किन्तु नियत जगह में रहते हैं, वे बादर नाम कर्म के उदय से बादर कहलाते हैं।

प्र० संज्ञी किसे कहते हैं?

उ० जिन जीवों के पांच इन्द्रियों और मन होता है वे संज्ञी कहलाते हैं।

प्र० असंज्ञी किसे कहते हैं?

उ० जिन जीवोंके मन नहीं होता है वे असंज्ञी कहलाते हैं।

प्र० पर्याप्त किसे कहते हैं?

उ० १ आहार पर्याप्ति, २ शरीर पर्याप्ति, ३ इन्द्रिय पर्याप्ति, ४ भाषा पर्याप्ति, ५ श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति और ६ मनः पर्याप्ति। जिस जीव में जितनी पर्याप्तियां संभव हैं वह जीव जब उतनी पर्याप्तियां पूरी कर लेता है तब वह पर्याप्तक कहलाता है। एकेन्द्रिय जीव स्वयोग्य चार पर्याप्तियां १ आहार पर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति पूरी करने पर पर्याप्तक कहे जाते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय उपरोक्त चार और पांचवीं भाषा पर्याप्ति पूरी करने पर तथा संज्ञी पञ्चेन्द्रिय उपरोक्त पांच और छठी मनःपर्याप्ति पूरी करने पर पर्याप्तक कहे जाते हैं।

प्र० अपर्याप्त किसे कहते हैं?

उ० जो जीव जब तक स्वयोग्य पर्याप्तियां पूरी नहीं बांध लेता है तब तक वह अपर्याप्तक कहा जाता है।

जीव तीन पर्याप्तियां (आहार, शरीर, इन्द्रिय) पूर्ण करके चौथी के अधूरी रहने पर मरते हैं, पहले नहीं, क्यों कि जीव आगामी भव की आयु बांध कर ही मृत्यु प्राप्त करते हैं और आयुका बन्ध उन्हीं जीवों को होता है जिन्हों ने आहार शरीर और इन्द्रिय ये तीन पर्याप्तियां पूर्ण कर ली हैं।

प्र० जीव के उत्कृष्ट भेद कितने हैं?

उ० जीव के उत्कृष्ट भेद ५६३ हैं। वे इस प्रकार हैं— नारकी के १४ भेद, तिर्यञ्च के ४८ भेद, मनुष्य के ३०३ भेद और देवता के १९८ भेद, ये सब मिला कर ५६३ भेद होते हैं।

प्र० नारकी के चौदह भेद कौन से है?

उ० १ धम्मा, २ वंसा, ३ सीला, ४ अञ्जना, ५ रिट्ठा (अरिष्ठा), मघा और माघवई (माघवती), ये सात नरकों के नाम हैं और १ रत्नप्रभा, २ शर्कराप्रभा, ३ बालुकाप्रभा, ४ पंकप्रभा, ५ धूमप्रभा, ६ तमःप्रभा और ७ तमस्तमाप्रभा (महातमःप्रभा) ये सात नरकों के गोत्र हैं। इन सात में रहनेवालें जीवों के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से नारकी जीवों के १४ भेद होते हैं।

प्र० रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा आदि नाम किस कारण से दिये गये है?

उ० पहली नारकी में रत्नकाण्ड है जिससे वहां रत्नों की प्रभा पडती है, इसलिए उसे रत्नप्रभा कहते हैं। दूसरी नारकीमें शर्करा अर्थात् तीखे पत्थरों के टुकडों की अधिकता है इसलिए उसे शर्कराप्रभा कहते हैं तीसरी नारकी में बालुका अर्थात् बालूरेत अधिक है। वह भडभुंजा की भाड से अनन्तगुणा अधिक तपती है इसलिए उसे बालुकाप्रभा कहते हैं। चौथी नारकी में रक्तमांस के कीचड की अधिकता है इसलिए उसे पङ्कप्रभा कहते हैं। पांचवीं नारकी में धूम (धूंआ) अधिक है। वह सोमलखार से भी अनन्तगुणा अधिक खारा है इसलिए उसे धूमप्रभा कहते हैं। छठी नारकी में तमः (अंधकार) की अधिकता है, इसलिए उसे तमःप्रभा कहते हैं। सातवीं नारकी में महातमस् अर्थात् गाढ अन्धकार है इसलिए उसे महातमःप्रभा कहते हैं। इसको तमस्तमःप्रभा भी कहते हैं जिसका अर्थ है जहां घोर अन्धकार ही अन्धकार है।

प्र० नरक किसे कहते हैं ?

उ० घोर पापाचरण करनेवाले जीव अपने पापों को भोगने के लिए अधोलोक में जिन स्थानों में पैदा होते हैं उन्हें नरक कहते हैं। अथवा मनुष्य और पशु जहां अपने पापों के अनुसार भयंकर कष्ट उठाते हैं उन अधोलोकस्थित स्थानों को नरक कहते हैं।

प्र० ये नरक कहां पर हैं ?

उ० ये नरक अधोलोक में हैं। पहली रत्नप्रभा नरक का

पिण्ड एक लाख अस्सी हजार योजन का है। उसमें से एक हजार योजन की ठीकरी ऊपर और एक हजार योजन की ठीकरी नीचे छोड देने पर बीच में एक लाख अठहत्तर हजार योजन की पोलार है। उसमें १३ पाथडे और १२ आंतरे हैं। उसमें तीसलाख नरकावास हैं। उनमें नैरयिक जीवों के उत्पन्न होने की असंख्याता कुम्भियाँ हैं। उनमें असंख्याता नैरयिक जीव हैं। पहली नरक के नीचे चार बोल हैं–१ बीस हजार योजन का घनोदधि है। २ असंख्याता योजन का घनवात है। ३ असंख्याता योजन का तनुवात है। ४ असंख्याता योजन का आकाश है। उस के नीचे दूसरी नरक है।

प्र० पाथडा किसे कहते है?

उ० नरक के एक परदे के बाद जो स्थान होता है उस तरह के स्थानों को पाथडा (प्रस्तट अथवा प्रतर) कहते है।

प्र० आंतरा किसे कहते हैं?

उ० एक पाथडे से दूसरे पाथडे के बीच का जो स्थान है उसको आंतरा (अन्तर) कहते हैं।

प्र० दूसरी नरक का पिण्ड कितना मोटा है?

उ० दूसरी नरक का पिण्ड एक लाख बत्तीस हजार योजन का है। उसमें से एक हजार योजन की ठीकरी ऊपर और एक हजार योजन नीचे छोड देने पर बीच में एक

लाख तीस हजार योजन की पोलार है। उसमें ११ पाथडे और १० आंतरे है। उनमें पचीस लाख नरकावास हैं। उनमें नेरयिक जीवों के उत्पन्न होने की असंख्याता कुम्भियां हैं। उनमें असंख्याता नैरयिक जीव है। उसके नीचे पहली नरककी तरह घनोदधि घनवात, तनुवात और आकाश है उसके नीचे तीसरी नरक है।

प्र० तीसरी नरक का पिण्ड कितना मोटा है?

उ० तीसरी नरक का पिण्ड एक लाख अठाईस हजार योजन का है। उसमें से एक हजार योजन की ठीकरी ऊपर और एक हजार योजन की ठीकरी नीचे छोड देने पर बीच में एक लाख छब्बीस हजार योजन की पोलार है। उसमें ९ पाथडे और ८ आंतरे हैं। उनमें पन्द्रहलाख नरकावास है। नैरयिक जीवों के उत्पन्न होने की असंख्याता कुम्भियां हैं। वहां असंख्याता नेरयिक जीव है। तीसरी नरक के नीचे ऊपर लिखे अनुसार घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश है उसके नीचे चौथी नरक है।

प्र० चौथी नरक का पिण्ड कितना मोटा है?

उ० चौथी नरक का पिण्ड एक लाख बीस हजार योजन का है। उसमें से एक हजार योजन की ठीकरी ऊपर और एक हजार योजन की ठीकरी नीचे छोड देने पर बीचमें एक लाख अठारह हजार योजन की पोलार है। उसमें ७ पाथडे और ६ आंतरे है। उनमें दसलाख नरकावास हैं।

नैरयिक जीवों के उत्पन्न होनेकी असंख्याता कुम्भियां हैं। असंख्याता नैरयिक जीव हैं। उसके नीचे, ऊपर लिखे अनुसार घनोदधि घनवात तनुवात और आकाश है। उसके नीचे पांचवां नरक है।

प्र० पांचवीं नरक का पिण्ड कितना मोटा है?

उ० पांचवां नरक का पिण्ड एक लाख अठारह हजार योजन का है। उसमें से एक हजार योजन ठीकरी ऊपर और एक हजार योजन ठीकरी नीचे छोड देने पर बीच में एक लाख सोलह हजार योजन की पोलार है। उनमें पांच पाथडे और चार आंतरे हैं। उनमें तीन लाख नरकावास हैं। नैरयिक जीवों के उत्पन्न होने की असंख्याता कुंभियां हैं। असंख्याता नैरयिक जीव हैं। उसके नीचे ऊपर लिखे अनुसार घनोदधि, घनवात, तनुवात, और आकाश है। उसके नीचे छठी नरक है।

प्र० छठी नरक का पिण्ड कितना मोटा है?

उ० छठी नरक का पिण्ड एक लाख सोलह हजार योजन का है। उसमें से एक हजार योजन की ठीकरी ऊपर और एक हजार योजन की ठीकरी नीचे छोड देने पर बीच में एक लाख चौदह हजार की पोलार है। उसमें तीन पाथडे और दो आंतरे है। उनमें पांच कम एक लाख नरकावास है। नैरयिक जीवों के उत्पन्न होने के असंख्याता कुंभियां हैं। असंख्याता नैरयिक जीव हैं। उसके नीचे ऊपर लिखे अनु-

सार घनोदधि घनवात तनुवात और आकाश है। उसके नीचे सातवीं नरक है।

प्र० सातवीं नरक का पिण्ड कितना मोटा है?

उ० सातवीं नरक का पिण्ड एक लाख आठ हजार योजन का है। उसमें से साढे बावन ५२॥ हजार योजन की ठीकरी उपर और साढे बावन ५२॥ हजार योजन की ठीकरी नीचे छोड देने पर बीच में तीन हजार योजन की पोलार है। उसमें सिर्फ एक पाथडा है, आंतरा नहीं है। उसमें पांच नरकावास है। उसमें नैरगिक जीवों के उत्पन्न होने की असंख्याता कुम्भियां है। उनमें असंख्याता नैरयिक जीव है। उसके नीचे बीस हजार योजन का घनोदधि है। उसके नीचे असंख्याता योजन का घनवात है। उसके नीचे असंख्याता योजन का तनुवात है। उसके नीचे असंख्याता योजन का लोकाकाश है। उसके नीचे अनन्त अलोकाकाश है।

प्र० इन सात नरकों में कितने नरकावास हैं?

उ० पहली नरकों में तीस लाख, दूसरी में पचीस लाख। तीसरी में पन्द्रह लाख। चौथी में दस लाख। पांचवीं में तीन लाख। छठी में पांच कम एक लाख और सातवीं में पांच। सातवीं के पांच नरकावासों के नाम इस प्रकार है— (१) पूर्व दिशा में काल। (२) पश्चिम दिशा में महाकाल। (३) दक्षिण दिशा में रोरुक (रौरव) (४) उत्तर दिशा में महारोरुक (महारौरव) (५) इन चारों के बीच में

अप्रतिष्ठानक। कुल मिला कर चौरासी लाख नरकावास हैं।

प्र० नरकों में वेदना किस प्रकार की होती है?

उ० अत्यन्त उष्ण या अत्यन्त शीत होने के कारण क्षेत्रजन्य वेदना सातों नरकों में होती है। पांचवीं नरक तक आपस में एक दूसरे के प्रहार से वेदना होती है अर्थात् नारकी जीवों के वैक्रिय शरीर होने से वे तरह तरह के भयङ्कर रूप बना कर एक दूसरे को कष्ट पहुंचाते हैं। गदा, मुद्गर आदि रूप बना कर एक दूसरे पर आक्रमण करते हैं। बिच्छू, सांप आदि बन कर काटते हैं, कीड़े बन कर सारे शरीर में घुस जाते हैं। इस तरह के रूप नारकी जीव संख्यात ही कर सकता है, असंख्यात नहीं। एक शरीर से सम्बद्ध (जुड़े हुए) ही कर सकता है, असम्बद्ध नहीं। एक सरीखे ही कर सकता है, भिन्न भिन्न प्रकार के नहीं। पांचवीं नरक तक नारकी जीव इस तरह एक दूसरे के द्वारा दुःख का अनुभव करते हैं। छठी और सातवीं नरक के जीव भी तरह तरह के कीड़े बन कर एक दूसरे को कष्ट पहुंचाते हैं। पहली तीन नरकों में परमाधार्मिक देवों के द्वारा भी नारकी जीवों को तरह तरह की वेदना पहुंचाई जाती है।

प्र० किन नरकों में उष्णवेदना और किन नरकों में शीत वेदना होती है?

उ० क्षेत्र स्वभाव से रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा और वालुकाप्रभा इन तीन नरकों में उष्णवेदना होती है। इन तीन नरकों

में उत्पत्तिस्थान बर्फ की तरह अत्यन्त शीतल होते हैं। इस-लिए यहां पैदा हुए जीवों की प्रकृति भी शीतप्रधान होती है। थोडी सी गर्मी भी उन को बहुत दुःख देती है। उत्पत्ति-स्थानों के अत्यन्त शीतल होने के कारण और वहां की सारी भूमि जलते हुए खैर के अङ्गारों से भी अधिक तप्त होने के कारण वे भयङ्कर उष्ण वेदना का अनुभव करते हैं, इसी तरह बाकी नरकों में अपने अपने स्वभाव के विपरीत वेदना होती है। चौथी नरक में ऊपर के अधिक नरकावासों में उष्णवेदना होती है और नीचेवाले नरकावासो में शीत वेदना होती है। पांचवीं नरक में अधिक नरकावासों में शीतवेदना और थोडों में उष्ण वेदना होती है। छठी और सातवीं नरक मे शीत वेदना ही होती है। यह वेदना नीचेवाले नरकों में अनन्तगुणी तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होती है। ग्रीष्मऋतु में मध्यान्ह के समय जब आकाश में कोई बादल न हो, वायु बिलकुल बन्द हो, सूर्य प्रचण्ड रूपसे तप रहा हो उस समय पित्त प्रकृतिवाला व्यक्ति जैसी उष्ण वेदना का अनुभव करता है उससे भी अनन्तगुणी उष्ण वेदना नारकी जीवों को (उष्ण वेदनावाले नरक के जीवों को) होती है। यदि उन जीवोंको नरक से निकाल कर प्रबल रूप से जलते हुए खैर के अङ्गारों में डाल दिया जाय तो वे अमृत रस से स्नान किये हुए व्यक्ति की तरह अत्यन्त सुख का अनुभव करेंगे। इस सुख से उन्हें नींद भी आ जायगी।

शीत ऋतु में पौष या माघ की मध्य रात्रि में आकाश के

प्राणियों की हिंसा आदि घोर पाप किये थे। इसी लिए इस जन्म में दुःख भोग रहे हैं, यह समझ कर वे दूसरे नारकी जीव द्वारा दिये गये कष्ट को सम्यक् प्रकार सहते हैं किन्तु अपनी तरफ से दूसरों को कष्ट पहुंचाने का प्रयत्न नहीं करते क्यों कि वे नये कर्मबन्ध से बचना चाहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव क्रोधादि कषायों से अभिभूत हो कर अपने बांधे हुए कर्मरूपी वास्तविक शत्रु को न समझ कर दूसरे नारकी जीवों को मारने के लिए दौडते हैं। इस तरह वे सब आपस में लड़ते रहते हैं। जिस तरह नये कुत्ते को देख कर गांव के कुत्ते भौंकने लगते हैं, इसी तरह नारकी जीव एक दूसरे को देखते ही क्रोध में भर जाते हैं। अपने प्रतिद्वन्द्वी को चीरने, फाड़ने, मारने आदि के लिए तरह तरह की विक्रियाएं करते हैं। इस तरह एक दूसरे द्वारा पीड़ित होते हुए वे करुण क्रन्दन करते हैं।

परमाधार्मिक देवों द्वारा जो वेदना दी जाती है उसका स्वरूप इस प्रकार है—वे उन्हें तपा हुआ सीसा पिलाते हैं, तपी हुई लोहमयी स्त्री से आलिङ्गन करवाते हैं। कूट शाल्मली वृक्ष के नीचे बैठा देते हैं जिस से उसके तलवार सरीखे पत्तों से उनके अङ्ग छिद जाते हैं। लोहे के हथौड़े से कूटते हैं। बसूले आदि से छीलते हैं। घाव पर नमक या तपा हुआ तेल डाल देते हैं। भाले में पिरो देते हैं। भाड़ में भूनते हैं। कोल्हू (घाणी) में पीलते हैं। करौती से चीरते हैं। विक्रिया के

द्वारा बनाए हुए कौए, गिद्ध आदि द्वारा तंग करते हैं। तपी हुई वालू रेत में फेंक देते हैं। असिपत्र वन में पैदा करते हैं। जहां तलवार सरीखे पत्ते गिर गिर कर उनके अंगों को काट डालते हैं। वैतरणी नदी में डुबा देते हैं और भी अनेक तरह की यातनायें देते हैं। कुम्भीपाक में पकाये जाते हुए नारकी जीव पांचसौ योजन तक ऊंचे उछलते हैं। फिर वहीं आ कर गिरते हैं। इन का वर्णन जीवाजीवाभिगम सूत्र, सूयगडाङ्गसूत्र, पन्नवणा सूत्र, प्रश्नव्याकरण आदि शास्त्रों में किया गया है।

स्थिति—जघन्य स्थिति पहली नारकी में दस हजार वर्ष, दूसरी में एक सागरोपम, तीसरी में तीन सागरोपम, चौथी में सात सागरोपम, पांचवीं में दस सागरोपम, छठी में सत्तरह सागरोपम और सातवीं में बाईस सागरोपम की होती है।

उत्कृष्ट स्थिति—पहली में एक सागरोपम, दूसरी में तीन सागरोपम, तीसरी में सात सागरोपम, चौथी में दस सागरोपम, पांचवीं में सत्तरह सागरोपम, छठी में बाईस सागरोपम और सातवीं में तेतीस सागरोपम की होती है।

अवगाहना—नारकी जीवों में अवगाहना दो तरह की होती है—भवधारणीय और उत्तर वैक्रिय जन्म से ले कर मृत्यु पर्यन्त शरीर का जो परिणाम रहता है अर्थात् जो स्वाभाविक परिणाम है उसे भवधारणीय कहते हैं। स्वाभाविक शरीर धारण करने के बाद किसी कार्य विशेष से जो शरीर बनाया जाता है उसे उत्तर वैक्रिय कहते हैं। पहली नरक में भवधार-

णीय उत्कृष्ट अवगाहना सात धनुष, तीन रत्नियां (मुण्ड हाथ और छह अंगुल होती है अर्थात् उत्सेधाङ्गुल से उनकी अवगाहना सवा इकतीस हाथ होती है। इस से आगे की नरकों में दुगुनी दुगुनी अवगाहना होती है अर्थात् दूसरी नरक में पन्द्रह धनुष दो हाथ बारह अंगुल उत्कृष्ट अवगाहना होती है। तीसरी में इकतीस धनुष एक हाथ, चौथी में बासठ धनुष दो हाथ, पांचवीं में एकसौ पचीस धनुष, छठी में ढाई सौ धनुष और सातवीं में पांच सौ धनुष की उत्कृष्ट अवगाहना होती है।

सभी नरकों में भवधारणीय जघन्य अवगाहना अंगुलका असंख्यातवां भाग होती है। वह उत्पत्ति के समय होती है। दूसरे समय नहीं। उत्तरवैक्रिय में जघन्य अवगाहना अंगुल के संख्यातवां भाग होती है। वह भी प्रारम्भकाल में ही रहती है। कहीं कहीं पर अंगुल का असंख्यातवां भाग कहा जाता है किन्तु शास्त्रों में संख्यातवां भाग ही है। पन्नवणासूत्र और अनुयोगद्वार सूत्र में संख्यातवां भाग ही बताया गया है।

अन्तरकाल—तिर्यञ्च और मनुष्यगति के जीव नरकगति में सदा उत्पन्न होते रहते हैं। यदि कभी अन्तर (व्यवधान) पड़ता है तो सारी नरकगति को ले कर जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त तक होता है अर्थात् उत्कृष्ट से उत्कृष्ट इतनी देर तक कोई भी जीव दूसरी गति से नरक में उत्पन्न नहीं होता है। हरएक नरक की विवक्षा से पहली में

उत्कृष्ट चौबीस मुहूर्त का विरह पड़ता है। दूसरी में सात अहोरात्र, तीसरी में पन्द्रह अहोरात्र, चौथी में एक महिना, पांचवीं में दो महीना, छठी में चार महीना और सातवीं में छह महीना। जघन्य से जघन्य विरह रत्नप्रभा आदि सभी नरकों में एक समय है। उद्वर्तना अर्थात नारकी जीवों के नरक से निकलने का भी उतना ही अन्तरकाल है जितना कि उत्पादविरहकाल है।

एक समय में नरक में कितने जीव उत्पन्न होते हैं और कितने जीव निकलते हैं? यह संख्या नारकी जीवों की देवों की तरह है अर्थात् एक समय में जघन्य एक अथवा दो। उत्कृष्ट संख्यात अथवा असंख्यात जीव उत्पन्न होते हैं और मरते हैं।

लेश्या—सामान्य रूप से नारकी जीवों में पहले की तीन अर्थात् कृष्ण, नील और कापोत लेश्याएं होती हैं। पहली नरक में कापोत लेश्या ही होती है। दूसरी में तीव्र कापोत लेश्या होती है। तीसरी में कापोत और नील लेश्या होती है अर्थात् ऊपर के नरकावासों में कापोत लेश्या और नीचे के नरकावासों में नील लेश्या होती है। चौथी में सिर्फ नील लेश्या होती है। पांचवीं में नील और कृष्ण लेश्या होती है अर्थात् ऊपर के नरकावासों में नील लेश्या और नीचे के नरकावासों में कृष्ण लेश्या होती है। छठी में कृष्ण लेश्या होती

है। सातवीं में बहुत तीव्र कृष्ण लेश्या होती है। इन में उत्तरोत्तर नीचे अधिकाधिक क्लिष्ट परिणामवाली लेश्याएं होती हैं।

अवधि (अवधिज्ञान अथवा विभङ्गज्ञान)—पहली नरकमें चार गव्यूति अर्थात् आठ मील तक उत्कृष्ट अवधि होता है। दूसरी में साढ़ तीन गव्यूति अर्थात् सात मील। तीसरी में तीन गव्यूति अर्थात् छह मील। चौथी में अढाई गव्यूति अर्थात् पांच मील। पांचवीं में दो गव्यूति अर्थात् चार मील। छठी में डेढ़ गव्यूति अर्थात् तीन मील और सातवीं में एक गव्यूति अर्थात् दो मील। ऊपर लिखे हुए परिमाण में से आधी गव्यूति अर्थात् एक मील कम कर देने पर हरएक नरक में जघन्य अवधि का परिणाम निकल आता है। अर्थात् पहली नरक में साढेतीन गव्यूति अवधि (अवधिज्ञान अथवा विभङ्गज्ञान) होता है। दूसरी में तीन, तीसरी में ढाई, चौथी में दो, पांचवीं में डेढ़, छठी में एक और सातवीं में आधी गव्यूति अर्थात् एक मील होता है।

परमाधार्मिक—परमाधार्मिक देव पन्द्रह जाति के होते हैं। वे इस प्रकार हैं। (१) अम्ब (२) अम्बरीष (३) श्याम (४) शबल (५) रौद्र (६) महारौद्र (७) काल (८) महाकाल (९) असिपत्र (१०) धनुष (११) कुम्भ (१२) वालुक (१३) वैतरणी (१४) खरस्वर (१५) महाघोष।

---

१ इन सब का अर्थ-देवों के प्रकरण में जहां पन्द्रह जाति के परमाधार्मिक देव गिनाये गये हैं वहां दिया जायगा।

ये परमाधार्मिक देव तीसरी नरकों तक के जीवों को नाना प्रकार से कष्ट पहुंचाते हैं।

पूर्व जन्म में क्रूर क्रिया तथा संक्लिष्ट परिणामवाले, सदा पाप में लगे हुए भी कुछ जीव पञ्चाग्नि तप आदि अज्ञानपूर्वक किये गये कायक्लेश से आसुरी अर्थात् राक्षसी गति को प्राप्त करते हैं। वे ही और परमाधार्मिक बन कर पहली तीन नरकों में कष्ट देते हैं। जिस तरह यहां मनुष्य, सांड, भैंसे, मेंढे, कुत्ते और कुक्कुट (मुर्गा) आदि को परस्पर लड़ा कर और उन्हें लड़ते देख कर खुश होते हैं। उसी तरह परमाधार्मिक भी कष्ट पाते हुए नारकी जीवों को देख कर खुश होते हैं। खुश हो कर अट्टहास करते हैं, तालियां बजाते हैं। इन बातों से परमाधार्मिक देव बड़ा आनन्द मानते हैं।

उद्वर्तना—पहली तीन नरकों से निकल कर तीर्थङ्कर हो सकते हैं अर्थात् नरक में जाने से पहले जिन जीवों ने तीर्थङ्कर नाम कर्म बांध लिया है वे रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा और वालुकाप्रभा से निकल कर तीर्थङ्कर हो सकते हैं, जैसे श्रेणिक राजा। चौथी से निकल कर जीव केवलज्ञान प्राप्त कर सकते हैं लेकिन तीर्थङ्कर नहीं हो सकते हैं। पांचवीं से निकल कर जीव सर्वविरतिरूप मुनिवृत्ति को प्राप्त कर सकते हैं किन्तु केवली नहीं हो सकते हैं। छठी से निकल कर देशविरतिरूप श्रावकपने की प्राप्ति कर सकते हैं किन्तु साधु नहीं बन सकते हैं। सातवीं से निकल कर सम्यग्दर्शनरूप सम्यक्त्व को प्राप्त

कर सकते हैं किन्तु त्याग पच्चक्खाणरूप व्रत अङ्गीकार नहीं कर सकते हैं।

संक्षेप में—पहली तीन नरकों से निकल कर तीर्थङ्कर, चौथी से निकल कर केवलज्ञानी, पांचवीं से निकल कर संयमी, छठी से निकल कर देशविरती और सातवीं से निकल कर समकिती हो सकते हैं।

ऋद्धि की अपेक्षा उद्वर्तना इस प्रकार है—पहली से निकल कर चक्रवर्ती हो सकते है और किसी से निकल कर नहीं। दूसरी तक से निकल कर बलदेव या वासुदेव हो सकते हैं। तीसरी तक से अरिहन्त, चौथी तक से चरम शरीरी, छठी से निकल कर नारकी जीव मनुष्य हो भी सकते हैं और नहीं भी, किन्तु उनमें सर्वविरतिरूप चारित्र नहीं आ सकता। सातवीं से निकल कर तिर्यञ्च ही होते हैं, उन्हें मनुष्यत्व भी प्राप्त नहीं होता।

(पन्नवणा सूत्र पद २०)

आगति—असंज्ञी अर्थात् समूच्छिम तिर्यञ्च पहली नरक तक जाते हैं, उससे नीचे की नरकों में नहीं जाते। सम्मूच्छिम मनुष्य अपर्याप्तावस्था में ही काल कर जाते हैं, इसलिए वे नरक में नहीं जाते। असंज्ञी तिर्यञ्च भी जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की आयुष वाले ही होते हैं। सरीसृप अर्थात् भुज परिसर्प (गोह, नकुल आदि) दूसरी नरक तक ही जा सकते हैं। गर्भज पक्षी (गि

आदि, तीसरी नरक तक ही जा सकते हैं। सिंह तथा उस जाति के चौपाये जानवर चौथी नरक तक ही जा सकते हैं। सर्प उरग (साँप आदि) पांचवी नरक तक ही जा सकते हैं। गर्भज मत्स्य, जलचर और मनुष्य भी क्रूर अध्यवसाय-वाले होते हैं वे सातवीं नरक में पैदा होते हैं। यह उत्पत्ति उत्कृष्ट बताई गई है। जघन्यरूप में सभी जीव नरक के पहले प्रतर में तथा मध्यमरूप से दूसरे प्रतर से लेकर मध्य के स्थानों में उत्पन्न हो सकते हैं।

नारकी जीव नरक से निकल कर बहुलता से साँप, व्याघ्र, सिंह, गिद्ध, मत्स्य आदि जातियों में संख्यात वर्ष की आयु वाले होकर क्रूर अध्यवसाय से पञ्चेन्द्रियवध आदि करते हुए फिर नरक में चले जाते हैं। यह बात बहुलता से कही गई है क्यों कि कुछ जीव मनुष्य या तिर्यञ्च में समकित प्राप्त कर शुभ गति भी प्राप्त कर सकते हैं।

(पन्नवणा सूत्र पद २०)

बाहल्य (मोटाई)-रत्नप्रभा का बाहल्य (मोटाई) एक लाख अस्सी हजार योजन का है। शर्कराप्रभा का एक लाख बत्तीस हजार, वालुकाप्रभा का एक लाख अट्ठाईस हजार, पङ्कप्रभा का एक लाख बीस हजार, धूमप्रभा का एक लाख अठारह हजार, तमःप्रभा का एक लाख सोलह हजार, महा-तमः प्रभा का एक लाख आठ हजार योजन का बाहल्य है।

काण्ड-भूमि के भाग विशेष को काण्ड कहते हैं। रत्न-

प्रभा के तीन काण्ड है-(१) खर (कठिन) काण्ड (२) पंक-बहुल, जिसमें किचड ज्यादह है (३) अबबहुल जिसमें पानी ज्यादह है। खर काण्ड के सोलह विभाग हैं-(१) रत्नकाण्ड, (२) वज्रकाण्ड, (३) वैडूर्यकाण्ड, (४) लोहितकाण्ड (५) मसारगल्लकाण्ड (६) हंसगर्भकाण्ड, (७) पुलककाण्ड, (८) सौगन्धिककाण्ड, (९) ज्योतिरसकाण्ड, (१०) अञ्जनकाण्ड (११) अञ्जनपुलककाण्ड, (१२) रजतकाण्ड (१३) जातरूपकाण्ड, (१४) अङ्ककाण्ड, (१५) स्फटिककाण्ड, (१६) रिष्टरत्नकाण्ड।

जिस काण्ड में जिस वस्तु की प्रधानता है उसी नाम से काण्ड का भी वही नाम है। प्रत्येक काण्ड की मोटाई एक हजार योजन है। पङ्कबहुल और अब्बहुलकाण्ड एक ही प्रकार के हैं, इनके विभाग नहीं हैं। शर्कराप्रभा आदि नरक भी एक ही प्रकार की हैं, उनमें विभाग नहीं हैं।

प्रतर अथवा प्रस्तट (पाथडा)-नरक के एक परदे के बाद जो स्थान होता है उसी तरह के स्थानों को प्रतर कहते हैं। पहली से लेकर छठी नरक तक प्रत्येक नरक में दो तरह के नरकावास हैं-आवलिका प्रविष्ट और आवलिका बाह्य (प्रकीर्णक) जो नरकावास चारों दिशाओं में पंक्तिरूप से अवस्थित हैं वे आवलिका-प्रविष्ट कहे जाते हैं। जो नरकावास पंक्तिरूप में अवस्थित नहीं हैं किन्तु इधर उधर बिखरे हुए हैं वे प्रकीर्णक कहे जाते हैं। रत्नप्रभा में तेरह प्रतर हैं।

पहले प्रतर के चारों तरफ प्रत्येक दिशामें उनपचास उनपचास नरकावास हैं और प्रत्येक विदिशा में अड़तालीस अड़तालीस नरकावास हैं, बीच में सीमन्तक नाम का नरकेन्द्रक है। सब मिलाकर पहले प्रतर में तीन सौ नवासी आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं। दूसरे प्रतर में प्रत्येक दिशा में अड़तालीस अड़तालीस और विदिशा में सैंतालीस सैंतालीस नरकावास हैं अर्थात् पहले प्रतर से आठ कम हैं। इसी तरह सभी प्रतरों में दिशाओं में और विदिशाओं में एक एक कम होने से पूर्व प्रतर से आठ आठ कम हो जाते हैं। कुल मिला कर तेरह प्रतरों में चार हजार चार सौ तेतीस आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं। बाकी उनतीस लाख पचानवें हजार पांच सौ सड़सठ प्रकीर्णक नरकावास हैं। कुल मिलाकर पहली नरक में तीस लाख नरकावास हैं।

दूसरी नरक में ११ प्रतर हैं। इसी तरह नीचे की नरकों में भी दो दो कम समझ लेना चाहिये। दूसरी नरक के पहले प्रतर में प्रत्येक दिशा में छत्तीस छत्तीस आवलिका प्रविष्ट नरकावास हैं और प्रत्येक विदिशा में पैंतीस पैंतीस बीच में एक नरकेन्द्रक है। सब मिलाकर दो सौ पचासी नरकावास हैं। दिशा और विदिशाओं में एक एक की कमी के कारण बाकी दश प्रतरों में क्रमशः आठ आठ घटते जाते हैं। ग्यारह ही प्रतरों में कुल मिलाकर दो हजार छह सौ पचाणवें आवलिका प्रविष्ट नरकावास हैं। बाकी चौबीस लाख सत्ता-

नवें हजार तीन सौ पांच प्रकीर्णक नरकावास हैं। दूसरी नरक में कुल मिला कर पचीस लाख नरकावास हैं।

तीसरी नरक में नौ प्रतर हैं। पहले प्रतर की प्रत्येक दिशा में पचीस पचीस और विदिशा में चौबीस चौबीस आवलिका प्रविष्ट नरकावास है, बीच में एक नरकेन्द्रक है। कुल मिला कर एक सौ सत्तानवें आवलिका प्रविष्ट नरकावास हैं। बाकी आठ प्रतरों में क्रमशः आठ आठ कम होते जाते हैं। सभी प्रतरों में कुल मिला कर एक हजार चार सौ पचासी आवलिका प्रविष्ट नरकावास हैं। बाकी चौदह लाख अठानवें हजार पांच सौ पन्द्रह प्रकीर्णक नरकावास हैं। कुल मिलाकर तीसरी नरक में पन्द्रह लाख नरकावास हैं।

चौथी नरक में सात प्रतर हैं। पहले प्रतर में प्रत्येक दिशा में सोलह सोलह तथा प्रत्येक विदिशा में पन्द्रह आवलिका प्रविष्ट नरकावास हैं। बीच में एक नरकेन्द्रक है। कुल मिला कर १२५ होते हैं। बाकी छह प्रतरों में पहली की तरह आठ आठ कम होते जाते हैं। कुल मिला कर सात सौ सात आवलिका-प्रविष्ट नरकावास है। बाकी नौ लाख निन्यानवें हजार दो सौ तिरानवें प्रकीर्णक हैं। कुल मिला कर दस लाख नरकावास हैं।

पांचवीं में पांच प्रतर हैं। पहले प्रतर की प्रत्येक दिशामें

नौ नौ और प्रत्येक विदिशा में आठ आठ नरकावास हैं। बीच में एक नरकेन्द्रक है। कुल मिला कर ६८ होते हैं। बाकी चार प्रतरों में आठ आठ कम होते जाते हैं। कुल मिला कर दो सौ पैंसठ आवलिका प्रविष्ट नरकावास हैं। बाकी दो लाख निन्यानवें हजार सात सौ पैंतीस प्रकीर्णक नरकावास हैं। कुल मिला कर तीन लाख नरकावास हैं।

छठी नरक में तीन प्रतर हैं। पहले प्रतर की प्रत्येक दिशा में चार चार और प्रत्येक विदिशा में तीन तीन नरकावास हैं। बीच में एक नरकेन्द्रक है। कुल २९ होते हैं। बाकी में आठ आठ कम हैं। तीनों प्रतरों में तिरेसठ आवलिका प्रविष्ट नरकावास हैं। बाकी निन्यानवें हजार नौ सौ बत्तीस प्रकीर्णक नरकावास हैं। कुल मिलाकर पांच कम एक लाख नरकावास हैं।

सातवीं में प्रतर नहीं है और पांच ही नरकावास हैं। प्रत्येक नरक के नीचे घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश है।

रत्नप्रभा नरक का खर काण्ड सोलह हजार योजन मोटा है। इसी के सोलह विभागरूप रत्न आदि काण्ड एक एक हजार योजन की मोटाई वाले हैं। रत्नप्रभा का पंकबहुल नाम का दूसरा काण्ड चौरासी हजार योजन मोटा है। तीसरा अब्बहुल काण्ड अस्सी हजार योजन मोटा है। रत्नप्रभा के नीचे घनोदधि की मोटाई बीस हजार योजन की है। घनवात की असंख्यात हजार योजन, तनुवात और आकाश भी असंख्यात हजार योजन की मोटाई वाले हैं।

शर्कराप्रभा के नीचे भी घनोदधि बीस हजार तथा घनवात, तनुवात और आकाश असंख्यात हजार योजन की मोटाई वाले हैं। इसी तरह सातवीं तक समझ लेना चाहिये।

ये सातों पृथ्वियां (नरकें) झल्लरी की तरह स्थित हैं। सब से ऊपर रत्नप्रभा का खरकाण्ड है। उसमें भी पहले रत्नकाण्ड है, उसके नीचे वज्रकाण्ड है। इसी तरह रिष्ट काण्ड तक सोलह काण्ड हैं। खरकाण्ड के नीचे पङ्कबहुल काण्ड है। उसके नीचे अब्बहुल काण्ड है। उसके नीचे घनोदधि, तनुवात और आकाश है। उसके नीचे शर्कराप्रभा है। इसी तरह सभी नरकें अवस्थित हैं।

मर्यादा–पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण सभी दिशाओं तथा विदिशाओं में रत्नप्रभा की सीमा से लेकर अलोकाकाश तक बारह योजन का अन्तर है। शर्कराप्रभा में तीसरा हिस्सा कम तेरह योजन। वालुकाप्रभा में तीसरा हिस्सा अधिक तेरह योजन। पङ्कप्रभा में चौदह योजन। धूमप्रभा में तीसरा हिस्सा कम पन्द्रह योजन। तमःप्रभा में तीसरा हिस्सा अधिक पन्द्रह योजन। सातवीं महातमःप्रभा में सोलह योजन। प्रत्येक पृथ्वी (नरक) के चारों तरफ तीन तीन वलय हैं। घनोदधि वलय, घनवात वलय और तनुवात वलय। इन वलयों की ऊंचाई प्रत्येक पृथ्वी की मोटाई के अनुसार है। घनोदधि वलय की मोटाई रत्नप्रभा के चारों तरफ प्रत्येक

दिशा में छह छह योजन है। इसके बाद प्रत्येक नरक में योजन का तीसरा भाग वृद्धि होता है अर्थात् शर्कराप्रभा में छह योजन एक तिहाई। वालुकाप्रभा में छह योजन दो तिहाई, पङ्कप्रभा में सात योजन, धूमप्रभा में सात योजन एक तिहाई, तमःप्रभा में सात योजन दो तिहाई और महातमःप्रभा में आठ योजन है।

घनवातवलय की मोटाई रत्नप्रभा के चारों तरफ प्रत्येक दिशा में साढे चार योजन है। आगे की नरकों में एक एक कोस अधिक बढता जाता है अर्थात् शर्कराप्रभा में एक कोस कम पांच योजन, वालुकाप्रभा में पांच योजन, पङ्कप्रभा में सवापांच योजन, धूमप्रभा में साढे पांच योजन, तमःप्रभा में पौने छह योजन और महातमःप्रभा में पूरे छह योजन।

रत्नप्रभा पृथ्वी की चारों तरफ तनुवात वलय की मोटाई प्रत्येक दिशा में छह छह कोस है। इसके बाद प्रत्येक पृथ्वी में कोस का तीसरा भाग अधिक है अर्थात् शर्कराप्रभा में छह कोस एक तिहाई, वालुकाप्रभा में छह कोस दो तिहाई, पङ्कप्रभा में सात कोस, धूमप्रभा में सात कोस एक तिहाई, तमःप्रभा में सात कोस दो तिहाई और महातमःप्रभा में आठ कोस है।

घनोदधि वलय, घनवात वलय और तनुवात वलय की मोटाई मिलाने से प्रत्येक नरक और अलोकाकाश के बीच का अंतराल ऊपर लिखे अनुसार निकल आता है। घनोदधि रत्नप्रभा पृथ्वी को घेरे हुए वलयाकार (चूडी के आकार)

स्थित है। घनवात घनोदधि को और तनुवात घनवात को घेरे हुए हैं। सभी नरकों में यही क्रम है।

प्रत्येक नरक असंख्यात हजार योजन लम्बी और असंख्यात हजार योजन चौडी है। सभी की लम्बाई और चौडाई दोनों बराबर हैं। हर एक की परिधि असंख्यात हजार योजन है। हरेक नरक की मोटाई अन्तिम तथा मध्यभाग में बराबर ही है।

रत्नप्रभा में जितने नारकी जीव हैं, वे प्रायः सभी (जो व्यवहार राशिवाले हैं) पहले नरक में उत्पन्न हो चुके हैं, लेकिन सभी एक ही समय में उत्पन्न हुए थे, ऐसा नहीं है। इसी तरह शर्कराप्रभा आदि सभी नरकों में समझना चाहिये। इसी तरह व्यवहार राशिवाले जीव प्रायः सभी इन नरकों को छोड़ चुके हैं, लेकिन सबने एक साथ नहीं छोड़ी। इसी तरह लोकवर्ती सभी पुद्गल रत्नप्रभा आदि नरकों के रूप में परिणत हो चुके हैं किन्तु वे सभी एक साथ परिणत नहीं हुए। इसी प्रकार सभी पुद्गलों द्वारा ये छोड़ी जा चुकी हैं। संसार अनादि होने से ये सभी बातें बन सकती हैं। संसार में स्वभाव से ही पुद्गल और जीवों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवागमन लगा रहता है।

सभी पृथ्वियाँ द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा शाश्वत हैं और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अशाश्वत हैं अर्थात् सभी के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श बदलते रहते हैं लेकिन द्रव्यरूप

से कभी नाश नहीं होता है। एक पुद्गल का अपचय (ह्रास) होने पर भी दूसरे पुद्गलों का उपचय (वृद्धि) होने से इन पृथ्वियों का अस्तित्व सदा बना रहता है। भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल में इनका अस्तित्व पाया जाता है। इसलिए ये पृथ्वियाँ ध्रुव हैं। नियत अर्थात् हमेशा अपने स्थान पर स्थित हैं। अवस्थित अर्थात् अपने परिमाण में कभी कम ज्यादा नहीं होती।

रत्नप्रभा पृथ्वि की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है। उसमें से एक हजार योजन ऊपर और एक हजार योजन नीचे छोड़ कर बाकी एक लाख अठहत्तर हजार योजन की मोटाई में तीस लाख नरकावास हैं। ये नरकावास अन्दर से गोल और बाहर से चौरस हैं। प्रकीर्णक नरकावास विविध संस्थान वाले हैं।

इन पृथ्वियों के नीचे का फर्श खुरप्र अर्थात् कील या चाकू सरीखा है। बालू आदि होने पर भी पैर रखते ही ऐसी पीड़ा होती है जैसे पैर में चाकू लग गया हो या कील चुभ गई हो। वहां पर सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्र तारा नहीं है। इसलिए सदा घोर अन्धकार रहता है। तीर्थङ्करों के जन्म दीक्षादि के समय होनेवाले क्षणिक प्रकाश को छोड़कर वहां सदा निविड़ अन्धकार बना रहता है। वहां की जमीन हमेशा चर्बी, राध, मांस, रुधिर आदि अशुचि पदार्थों से लीपी रहती है। देखने से घृणा पैदा होती है। मरी हुई

गाय के कलेवर से भी बहुत अधिक महादुर्गन्ध भरी होती है। काले रंगवाली अग्नि ज्वाला की तरह उनकी आभा होती है। असि (तलवार) की धारा के समान अत्यंत तीक्ष्ण असह्य स्पर्श होता है। वहां गन्ध, रस, शब्द, स्पर्श सभी अशुभ होते हैं।

जिस प्रकार पहली नरक का बतलाया गया उसी प्रकार सभी नरकों में एक हजार योजन ऊपर और एक हजार योजन नीचे छोडकर बीच में नरकावास हैं। नरकावासों की संख्या पहले बताई जा चुकी है। सातवीं नरक की मोटाई एक लाख आठ हजार योजन है। उसमें से साढे बावन हजार योजन ऊपर और साढे बावन हजार योजन नीचे छोड़कर बीच में तीन हजार योजन की मोटाई में काल, महाकाल रौरव, महा-रौरव और अप्रतिष्ठान नामक पांच महानरक हैं।

नरकावास दो तरह के हैं—आवलिका प्रविष्ट और आव-लिका बाह्य (प्रकीर्णक) जो चारों दिशाओं और चारों विदि-शाओं में समश्रेणी में अवस्थित हैं वे आवलिका प्रविष्ट हैं। बाकी आवलिका बाह्य (प्रकीर्णक) हैं। आवलिका प्रविष्ट नरका-वासों का संस्थान गोल, त्रिकोण और चतुष्कोण है। आवलिका बाह्य (प्रकीर्णक) भिन्न भिन्न संस्थान वाले हैं। कोई लोहे की कोठी के समान, कोई भट्टी के समान, कोई चूल्हे के समान, कोई कड़ाही के समान, कोई देगची के समान, इत्यादि संस्थानों वाले हैं। छठी नरक तक नरकावासों का यही स्वरूप

है। सातवीं नरक के पांचों नरकावास आवलिका प्रविष्ट हैं। चार नरकावास चारों दिशाओं में हैं और बीच में अप्रतिष्ठान नामक नरकेन्द्रक गोल है। बाकी चारों त्रिकोण हैं।

सातों नरकों में प्रत्येक नरकावास की मोटाई तीन हजार योजन है। नीचे का एक हजार योजन निविड अर्थात् ठोस है, बीच का एक हजार योजन खाली है। ऊपर का एक हजार योजन संकुचित है।

इन नरकावासों में कुछ संख्येय विस्तृत हैं और कुछ असंख्येय विस्तृत। जिनका परिमाण संख्यात योजन है वे संख्येय विस्तृत हैं और जिनका परिमाण असंख्यात योजन हैं वे असंख्येय विस्तृत हैं। संख्येय विस्तृत नरकावासों की लम्बाई, चौडाई और परिधि संख्यात हजार योजन है और असंख्येय विस्तृत नरकावासों की असंख्यात हजार योजन है। सातवीं नरक में अप्रतिष्ठान नामका नरकेन्द्रक एक लाख योजन विस्तृत है। बाकी चार नरकावास असंख्येय विस्तृत हैं। अप्रतिष्ठान नामक संख्येय विस्तृत नरकावास का आयाम (लम्बाई) और विष्कम्भ (चौडाई) एक लाख योजन है और परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन तीन कोस, एक सौ अट्ठाईस धनुष तथा साढेतेरह अङ्गुल से कुछ अधिक है। परिधि का यह परिमाण जम्बूद्वीप की परिधी की तरह गणित के हिसाब से निकलता है। बाकी चार नरका-

वासों का असंख्यात योजन आयाम तथा विष्कम्भ है और इतनी ही परिधी है।

वर्ण—नारकी जीव भयङ्कर रूप वाले होते हैं। अत्यन्त काले, कालीप्रभा वाले तथा भय के उत्कट रोमाञ्च वाले होते हैं। प्रत्येक नारकी जीवका रूप एक दूसरे को भय उत्पन्न करता है।

गन्ध—सांप, गाय, घोडा, भैंस आदि के सड़े हुए मृत शरीर से भी कई गुणी दुर्गन्धि नारकी जीवों के शरीर से निकलती है। उनमें कोई चीज रमणीय और प्रिय नहीं होती।

स्पर्श—तलवार की धार, उस्तरे की धार, कदम्ब चीरिका (एक तरह का घास जो दूब से भी बहुत तीखा होता है), शक्ति, सूइयों का समूह, बिच्छू का डंक, कपिकच्छू (खाज पैदा करने वाली बेल), अंगार, ज्वाला, कण्डों की आग, आदि से भी अधिक कष्ट देने वाले नरकों का स्पर्श होता है।

नरकावासों का विस्तार—महाशक्तिशाली ऋद्धिसम्पन्न महेशान देव तीन चुटकियों में एक लाख योजन लम्बे और एक लाख योजन चौड़े जम्बूद्वीप की इक्कीस प्रदक्षिणा कर सकता है, इतना शीघ्र चलने वाला देव भी यदि पूरे वेग से नरकावासों को पार करने लगे तो किसी में एक दिन, किसी में दो दिन तथा किसी में छह महीने लग जायेंगे और कुछ नरकावास तो ऐसे हैं जो छह महीनों में भी पार नहीं किये जा सकते हैं। रत्नप्रभा आदि सभी नरकों में इतने विस्तार वाले नरकावास हैं। सातवीं महातमः प्रभा नरक में अप्रतिष्ठान

नामक नरकावास का अन्त तो उस देवता द्वारा छह महीने में प्राप्त किया जा सकता है, बाकी नरकावासों का नहीं।

क्रिमया-ये सभी नरकावास वज्रमय हैं अर्थात् वज्र की तरह कठोर हैं। इनमें पुद्गलों के परमाणुओं का आना जाना बना रहता है किन्तु मूल रूप में कोई फर्क नहीं पडता है।

संख्या-यदि प्रत्येक समय एक नारकी जीव रत्नप्रभा नरक से निकले तो सम्पूर्ण जीवों को निकलने में असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल लग जायगा। यह बात नारकी जीवों की संख्या बताने के लिए लिखी गई है, वस्तुतः ऐसा न कभी हुआ है, न होता है और न होगा। शर्कराप्रभा आदि नरक के जीवों की संख्या भी इसी प्रकार जाननी चाहिये।

संहनन-नारकी जीवों के छह संहननों में से कोई भी संहनन नहीं होता किन्तु उनके शरीर के पुद्गल दुःखरूप होते हैं।

संस्थान-संस्थान दो तरह का हैं। भवधारणीय और उत्तर विक्रियारूप। नारकी जीवों के दोनों तरह से हुण्डक संस्थान होता है।

श्वासोच्छ्वास-सभी अशुभ पुद्गल नारकी जीवों के श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत होते हैं।

दृष्टि-नारकी जीव सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्-मिथ्यादृष्टि तीनों तरह के होते हैं।

ज्ञान—रत्नप्रभा में नारकी जीव ज्ञानी तथा अज्ञानी (मिथ्याज्ञानी) दोनों तरह के होते है। जो सम्यग्दृष्टि हैं वे ज्ञानी हैं और जो मिथ्यादृष्टि हैं वे अज्ञानी हैं। ज्ञानी नारकी जीवों में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीन ज्ञान नियम से पाये जाते हैं। अज्ञानी नारकी जीवों में अज्ञान तीन भी होते हैं और दो भी। जो जीव असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय से आते हैं वे अपर्याप्तावस्था में दो अज्ञान वाले होते हैं। दो अज्ञानों के समय उनके मतिअज्ञान तथा श्रुतअज्ञान होते हैं पर्याप्तावस्था में तथा दूसरे मिथ्यादृष्टि जीवों को विभंगज्ञान भी होता है। दूसरी से लेकर सातवीं नरक तक सम्यग्दृष्टि जीवों के तीन ज्ञान और मिथ्यादृष्टि के तीन अज्ञान होते हैं।

योग—नारकी जीवों में मनयोग वचनयोग और काययोग ये तीनों योग होते हैं।

उपयोग—नारकी जीव साकारोपयोग तथा निराकारोपयोग दोनों तरह के उपयोग वाले होते हैं अर्थात् ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग दोनों होते हैं।

समुद्घात—नारकी जीवों के चार समुद्घात होते हैं—वेदना समुद्घात, कषायसमुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात और वैक्रिय समुद्घात।

प्राण, भूत, जीव और सत्त्व स्थावर और त्रस सभी कायों के जीव, जो व्यवहार राशि में आ चुके हैं, वे नरक में अनेक बार उत्पन्न हुए हैं।

जीवा जीवाभिगम सूत्र में नरक के विषय में जो जो बातें कही गई हैं, उनके लिए संग्रहणी गाथाओं को उपयोगी जानकर यहां दिया जाता है।

पुढवीं ओगाहित्ता, नरगा संठाणमेव बाहल्लं।
विक्खंभपरिक्खेवे, वण्णो गंधो य फासो य ॥ १ ॥
तेसिं महालयाए उवमा, देवेण होइ कायव्वा।
जीवाय पोग्गला वक्कमंति, तहसासया णिरया ॥ २ ॥
उववायपरीमाणं अवहारुच्च त्तमेव संघयणं।
संठाण वण्णगंधा, फासा ऊसासमाहारे ॥ ३ ॥
लेस्सा दिट्ठी णाणे जोगुवओगे तहा समुग्घाया।
ततो खुहा पिवासा विउव्वणा वेयणा य भए ॥ ४ ॥
उववाओ पुरिसाणं ओवम्मं वेयणाए दुविहाए
उव्वट्टण पुढवीउ, उववाओ सव्वजीवाणं ॥ ५ ॥

अर्थ—इस प्रकरण में नीचे लिखे विषय बताये गये हैं—(१) पृथ्वियां (नरकों) के नाम तथा गोत्र। (२) नरकावासों का स्वरूप तथा अवगाहना। (३) नरकावासों का संस्थान (४) बाहल्य अर्थात् मोटाई (५) आयाम (लम्बाई) विष्कम्भ (चौडाई और परिक्षेप (परिधि)। (६) वर्ण, गन्ध, स्पर्श, (७) असंख्यात योजन वाले नरकावासों के विस्तार के लिए उपमा। (८) जीव और पुद्गलों की व्युत्क्रान्ति। (९) शाश्वत अशाश्वत। (१०) उपपात अर्थात् किस नरक में कौन से जीव उत्पन्न होते हैं। (११) एक समय में कितने

जीव उत्पन्न होते हैं तथा कितने मरते हैं। (१२) नारकी जीवों की अवगाहना (१३) संहनन (१४) संस्थान (१५) नारकी जीवों का वर्ण, गन्ध, स्पर्श तथा उच्छ्वास (१६) आहार (१७) लेश्या (१८) दृष्टि (१९) ज्ञान (२०) योग (२१) उपयोग (२२) समुद्घात (२३) क्षुधा और तृषा अर्थात् भूख और प्यास (२४) विक्रिया (२५) वेदना और भय (२६) उष्ण वेदना शीत वेदना (२७) स्थिति (२८) उद्वर्तना (२९) पृथ्वियों का स्पर्श (३०) उपपात।

वेदना और निर्जरा—कर्म का फल पूरी तरह भोगने को वेदना कहते हैं। कर्मफल को प्राप्त किये बिना ही तपस्या आदि के द्वारा कर्मों को खपा डालना निर्जरा है। वेदना से कर्मों का क्षय तो होता है लेकिन पूरा फल भोगने के बाद। नारकी जीव कर्मों की वेदना तो करते हैं किन्तु निर्जरा नहीं। वेदना और निर्जरा का समय भी भिन्न भिन्न है। कर्मों का उदय होने पर फल भोगना वेदना है और वेदना के बाद तथा कर्मों का उदय होने से पहले ही तपस्या आदि द्वारा कर्मों को क्षय कर देना निर्जरा है।

(भगवती सूत्र श. ७ उ. ३)

---

१ इनमें से जो विषय पहले प्रज्ञापना सारोद्धार के प्रकरण में लिखे जा चुके हैं वे यहाँ दुबारा नहीं दिये गये हैं।

परिचारणा—नारकी जीव उत्पन्न होते ही आहार-ग्रहण करते हैं। बाद में उनके शरीर की रचना होती है। फिर पुद्गलों का ग्रहण और शब्द आदि विषयों का सेवन करते हैं। उसके बाद परिचारणा और विकुर्वणा (वैक्रिय लब्धि के द्वारा शरीर के भिन्न भिन्न रूप करना) करते हैं।

(पन्नवणा सूत्र ३४ वां पद)

नारकी जीवों की विग्रह गति—नरक गति में उत्पन्न होने वाला जीव अनन्तरोपपन्नक, परम्परोपपन्नक और अनन्तर परम्परानुपपन्नक तीनों प्रकार का होता है। जो जीव ऋजुगति से सीधे एक ही समय में दूसरे स्थान से नरक गति में पहुंच जाते हैं वे अनन्तरोपपन्नक हैं। दो तीन चार पांच समय में उत्पन्न होनेवाले नारकी जीव परम्परोपपन्नक हैं। जो जीव विग्रहगति को प्राप्त कर उत्पन्न होते हैं वे अनन्तर-परम्परानुपपन्नक हैं। ये गतियां बहुत ही शीघ्र होती हैं। एक बार पलक गिरने में असंख्यात समय लग जाते हैं किन्तु नारकी जीवों की विग्रह गति में उत्कृष्ट पांच समय ही लगते हैं।

अनन्तरोपपन्नक, परम्परोपपन्नक और अनन्तर परम्परानुपपन्नक तीनों तरह के नारकी जीव और देव नरकगति और देवगति का आयुष्य नहीं बांधते हैं। मनुष्य और तिर्यञ्च ये दोनों ही नरकगति और देवगति का आयुष्य बांधकर नरकगति और देवगति में जाते हैं।

(भगवती सूत्र शतक १४ उद्दे० १)

नारकी जीव दस स्थानों का अनुभव करते हैं। वे इस प्रकार हैं-(१) अनिष्ट शब्द (२) अनिष्ट रूप (३) अनिष्ट गन्ध (४) अनिष्ट रस (५) अनिष्ट स्पर्श (६) अनिष्ट गति (अप्रशस्त विहायोगति। (७) अनिष्ट स्थिति। (नरक में रहने रूप) (८) अनिष्ट लावण्य (९) अनिष्ट यशः कीर्ति (१०) अनिष्ट उत्थान, कर्म, बल, वीय, और पुरुषाकार पराक्रम।

(भगवती सूत्र श. १४. उ. ५)

आहार, योनि तथा कारण-जितने पुद्गल द्रव्यों के समुदाय से पूरा आहार होता है उसे अवीचि द्रव्य कहते हैं तथा सम्पूर्ण आहार में एक प्रदेश न्यून या अधिक प्रदेश न्यून आहार को वीचि द्रव्य कहते हैं। जो जीव एक भी प्रदेश न्यून (कम) आहार करते हैं वे वीचि द्रव्य का आहार करते हैं। जो पूर्ण द्रव्यों का आहार करते हैं वे अवीचि द्रव्य का आहार करते हैं। नारकी जीवों का आहार पुद्गलरूप होता है और पुद्गलरूप से ही परिणमता है। नारकी जीवों के उत्पत्ति स्थान अत्यन्त शीत तथा अत्यन्त उष्णपुद्गलों के होते हैं। आयुष्य कर्म के पुद्गल नारकी जीव की नरक में स्थिति के कारण होते हैं। प्रकृतिबन्ध आदि बन्धों के कारण कर्म जीव के साथ लगे हुए हैं और नरकादि पर्यायों के कारण होते हैं।

(भगवतीसूत्र श० १४ उ० ६)

नरकों का अन्तर—रत्नप्रभा आदि सातों नरकों का परस्पर अन्तर असंख्यात लाख योजन है। सातवीं महातमःप्रभा और अलोकाकाश का भी अन्तर असंख्यात लाख योजन है। रत्नप्रभा और ज्योतिषी विमानों का अन्तर सात सौ नव्वे योजन है।

(भगवतीसूत्र श० १४ उ० ८)

संस्थान—संस्थान छह हैं—परिमंडल (चूड़ी के आकार गोल), वृत्त (गोल), त्र्यस्र (त्रिकोण), चतुरस्र (चतुष्कोण), आयत (लम्बा) और अनित्थंस्थ (अनवस्थित) सातों नरकों में आयत संस्थान तक के पांचों संस्थान होते हैं।

(भगवतीसूत्र श. २५ उ. ३)

युग्म (राशि)—जिस राशि में से चार चार कम करते हुए शेष चार बच जाय उसे कृतयुग्म कहते हैं। तीन बचें तो त्र्योज कहते हैं। दो बचें तो द्वापर युग्म और एक बचे तो कल्योज कहते हैं। नरकों में चारों युग्म होते हैं।

(भगवती सूत्र श. १८ उ. ४)

आयुबन्ध—क्रियावादी नैरयिक मनुष्यगति की ही आयु बांधते हैं। अक्रियावादी नैरयिक मनुष्य और तिर्यञ्च दोनों की आयु बांधते हैं। इसी तरह अज्ञानवादी और विनयवादी नैरयिक भी मनुष्य और तिर्यञ्च दोनों की आयु बांधते हैं।

(भगवती सूत्र शतक ५ उद्देशक ९)

उपरोक्त सात नरकों के अपर्याप्त नैरयिक जीव और पर्याप्त नैरयिक जीव। इस प्रकार नैरयिक जीवों के १४ भेद होते हैं।

तिर्यञ्च के ४८ भेद

प्र० तिर्यञ्च के ४८ भेद कौन से हैं?

उ० एकेन्द्रिय के २२, विकलेन्द्रिय के ६ और तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय के २०, ये कुल मिला कर तिर्यञ्च के ४८ भेद होते हैं।

अब इनका विस्तार से वर्णन किया जाता है—पृथ्वीकाय के चार भेद हैं—सूक्ष्म और बादर, इन दोनों के अपर्याप्त और पर्याप्त। ये चार भेद हैं। मिट्टी, हींगलू, हडताल, पत्थर, हीरा पन्ना आदि सात लाख योनि है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति सण्हा (श्लक्ष्ण) पृथ्वी की एक हजार वर्ष, शुद्ध पृथ्वी की बारह हजार वर्ष, बालु पृथ्वी की चौदह हजार वर्ष, साकरा पृथ्वी की अठारह हजार वर्ष और खर पृथ्वी की बाईस हजार वर्ष की है। एक कंकर जितनी पृथ्वीकाय में असंख्याता जीव होते हैं। पृथ्वीकाय का वर्ण पीला है। स्वभाव कठोर है। संठाण (संस्थान) चन्द्रमा अथवा मसूर की दाल के समान है। एक पर्याप्त की नेसराय में असंख्याता अपर्याप्त उत्पन्न होते हैं।

अप्काय के चार भेद—सूक्ष्म, बादर और इन दोनों के अपर्याप्त और पर्याप्त। बरसात का पानी, ओस का पानी,

गडे का पानी, समुद्र का पानी, धुंवर का पानी, कुआ बावड़ी का पानी आदि सात लाख योनी है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सात हजार वर्ष की है। एक पानी की बुंद में असंख्याता जीव है। अप्काय का वर्ण लाल है। स्वभाव दीला है। संठाण पानी के परपोटे के समान है। एक पर्याप्त की नेसराय में असंख्याता अपर्याप्त होते हैं।

तेउकाय के चार भेद-सूक्ष्म, बादर, इन दोनों के अपर्याप्त और पर्याप्त। झाल की अग्नि, विजली की अग्नि, बांस की अग्नि, उल्कापात, आदि सात लाख योनी है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट तीन दिन रात की है। एक अग्नि की चिनगारी में असंख्याता जीव हैं। तेउकाय का वर्ण सफेद है। स्वभाव उष्ण (गर्म) है। संठाण सूई के भारे के समान है। सूई की तरह अग्नि की झाल नोचे से छोटी और ऊपर से मोटी होती है। एक पर्याप्त की नेसराय में असंख्याता अपर्याप्त उत्पन्न होते हैं।

वायुकाय के चार भेद-सूक्ष्म, बादर, और इन दोनों के अपर्याप्त और पर्याप्त। ये चार भेद हैं। उक्कलियावाय, मंडलियावाय, घनवाय, तनुवाय, पूर्ववाय, पश्चिमवाय आदि सात लाख योना है, स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन हजार वर्ष की है। एक फूंक की वायु में असंख्याता जीव हैं। वायु काय का वर्ण हरा है। स्वभाव चलना (बाजणा) है। संठाण ध्वजा (पताका) के आकार है।

वनस्पतिकाय के छह भेद—सूक्ष्म, प्रत्येक, साधारण। इन तीनों के अपर्याप्त और पर्याप्त। प्रत्येक वनस्पतिकाय की दस लाख योनि है और साधारण वनस्पतिकाय की चौदह लाख योनि है। वनस्पतिकाय का वर्ण काला है। स्वभाव और संठाण नाना प्रकार का है। एक शरीर में एक जीव होवे उसे प्रत्येक वनस्पतिकाय कहते हैं। जैसे आम, अंगूर, केला, बड़, पीपल आदि दस लाख योनि है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट दस हजार वर्ष की है।

कन्दमूल की जाति को साधारण वनस्पतिकाय कहते हैं। जैसे—लहसुन, सकरकन्द, अदरख, आलू, रतालू, गाजर, मूली, हरी हल्दी, मूंगफली, लीलण फूलण आदि चौदह लाख योनि है। उपरोक्त कन्दमूल आदि साधारण वनस्पतिकाय में एक सुई के अग्रभाग में आवे उतने में असंख्याता श्रेणियां हैं। एक श्रेणि में असंख्याता प्रतर हैं। एक प्रतर में असंख्याता गोले हैं। एक एक गोले में असंख्याता शरीर हैं। एक एक शरीर में अनन्त जीव हैं। स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की है।

पृथ्वीकाय अप्काय तेउकाय वायुकाय वनस्पतिकाय इन पांचों काय के सूक्ष्म को सिर्फ केवली भगवान् ही देख सकते हैं, वे छद्मस्थ के दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। बादर को केवली भगवान् और छद्मस्थ दोनों देखते हैं। इन पांचों काय के जीव चार पर्याप्तियां (आहार, शरीर, इन्द्रिय और

श्वासोच्छ्वास) पूरी बांध लेते हैं वे पर्याप्त कहलाते और जो इनसे कम बांधते हैं एवं पूरी नहीं बांधते हैं वे अपर्याप्त कहलाते हैं।

पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावर के उपरोक्त प्रकार से २२ बाईस भेद हुए।

विकलेन्द्रिय के ६ छह भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं— बेइन्द्रिय के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त। जिसके स्पर्शेन्द्रिय और रसेन्द्रिय अर्थात् शरीर और मुख ये दो इन्द्रियां होती हैं उसको बेइन्द्रिय कहते हैं। जैसे शंख, सीप, कोडी कोडा, लट, अलसिया, कृमि (चूरणीयो) वाला (नहरू) आदि दो लाख योनि हैं। बेइन्द्रिय की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट बारह वर्ष की है।

तेइन्द्रिय के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त। जिसके स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय अर्थात् शरीर, मुख और नाक ये तीन इन्द्रियों होती हैं उसको तेइन्द्रिय कहते हैं। जैसे— जूं, लीख, चांचड, मांकड (खटमल), कीडा, कुंथुआ, कानखजूरा आदि दो लाख योनि है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट उनपचास दिन की है।

चौइन्द्रिय के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त। जिसके स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुइन्द्रिय है अर्थात् शरीर, मुख, नाक और आंख ये चार इन्द्रियों होती हैं उनको चौइन्द्रिय कहते हैं। जैसे—मक्खी, डांस, मच्छर, भंवरा, टीडी,

पतंगिया, कसारी आदि दो लाख योनि है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट छह मास की होती है।

तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय के बीस भेद—जलचर, स्थलचर, खेचर उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प। इन पांच के संज्ञी असज्ञी के भेद से दस भेद होते हैं। इन दस के अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से बीस भेद हो जाते हैं। तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय अर्थात् शरीर, मुख, नाक, आंख, और कान ये पांचों ही इन्द्रियां होती हैं। गाय, भैंस, बैल, हाथी, घोड़ा आदि चार लाख योनि है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की होती है।

प्र०—जलचर किसे कहते हैं?

उ०—जल (पानी) में चलने वाले जीव जलचर कहलाते हैं। जैसे मच्छ आदि। जलचर के मच्छ, कच्छप (कछुआ) मगर, ग्राह और सुंसुमार ये पांच भेद हैं।

प्र० स्थलचर किसे कहते हैं?

उ० स्थल (पृथ्वी) पर चलने वाले जीव स्थलचर कहलाते हैं। जैसे—गाय, भैंस, घोड़ा आदि। स्थलचर के एक खुरा, दो खुरा (द्विखुर) गण्डीपया (गण्डीपदा) और सनखपया (सनखपदा) ये चार भेद होते हैं। जिनके पैर में एक ही खुर होता है वे एकखुरा कहलाते हैं, जैसे—घोड़ा, गदहा आदि। जिनके पैर में दो खुर होते हैं वे दोखुरा (द्विखुरा) कहलाते

हैं, जैसे–गाय, भैंस, बैल आदि। जिनके पैर सुनार की एरण तरह चपटे होते हैं वे गण्डीपया (गण्डीपदा) कहलाते हैं। जैसे–हाथी आदि। जिनके पैरों में नख होते हैं वे सणपया (सनखपदा) कहलाते हैं। जैसे–कुत्ता, बिल्ली, सिंह, चित्ता आदि।

प्र० खेचर किसको कहते हैं?

उ० खे अर्थात् आकाश में उड़ने वाले जीव खेचर कहलाते हैं। जैसे–कबूतर, कौआ आदि। खेचर के चार भेद होते हैं, जैसे कि–१ चर्मपक्षी, रोमपक्षी, ३ समुग्ग पक्षी (समुद्गक पक्षी) और ४ वितत पक्षी। चर्ममय अर्थात् चमड़े की पंख वाले पक्षी चर्मपक्षी कहलाते हैं। जैसे–चिमगादड़ आदि। रोममय अर्थात् रोम की पंख वाले पक्षी रोमपक्षी कहलाते हैं। जैसे–हंस, बगुला, चीड़ी, कबूतर आदि। समुग अर्थात् डिब्बे की तरह बन्द पंख वाले पक्षी समुग्ग पक्षी (समुद्गक पक्षी) कहलाते हैं। फैले हुए पंख वाले अर्थात् जिनके पंख सदा फैले हुए ही रहते हैं वे विततपक्षी कहलाते हैं। समुग्ग पक्षी (समुद्गकपक्षी) और विततपक्षी ये दो जाति के पक्षी अढाईद्वीप के बाहर ही होते हैं।

प्र० उरपरिसर्प किसे कहते हैं?

उ० उर अर्थात् छाती से चलने वाले जीव उरपरिसर्प कहलाते हैं, जैसे सांप आदि।

प्र० भुजपरिसर्प किसे कहते हैं?

उ० भुजाओं से चलने वाले जीव भुजपरिसर्प कहलाते हैं, जैसे-नोलिया, चूहा आदि।

इस प्रकार एकेन्द्रिय के २२, तीन विकलेन्द्रिय के ६ भेद और तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय के २० भेद, ये सब मिला कर तिर्यञ्च के ४८ भेद हुए।

मनुष्य के ३०३ भेद—

कर्मभूमि के १५, अकर्मभूमि के ३० और अन्तरद्वीपों के ५६ ये सब मिला कर गर्भज मनुष्य के १०१ भेद होते हैं। इनके अपर्याप्त और पर्याप्त ये २०२ भेद होते हैं और १०१ क्षेत्र के सम्मूर्च्छिम मनुष्य के अपर्याप्त। ये सब मिला कर मनुष्य के ३०३ भेद होते हैं।

प्र० पन्द्रह कर्मभूमि के स्थान कौन से हैं?

उ० ५ भरत, ५ ऐरावत और ५ महाविदेह, ये १५ कर्म भूमि के क्षेत्र हैं। इनमें से एक भरत, एक ऐरावत और एक महाविदेह ये तीन क्षेत्र जम्बुद्वीप में हैं। दो भरत, दो ऐरावत और दो महाविदेह ये छह क्षेत्र घातकीखण्डद्वीप में हैं। दो भरत, दो ऐरावत और दो महाविदेह ये छह क्षेत्र अर्द्धपुष्कर द्वीप में हैं।

प्र० कर्मभूमि किसे कहते हैं?

उ० जहां असि (तलवार आदि शस्त्र) मसि (स्याही अर्थात् लिखने पढ़ने का कार्य) और कृषि (खेती) के काम

मनुष्य अपना निर्वाह करते हैं उसे कर्मभूमि कहते हैं। कर्मभूमि में तिर्थङ्कर, गणधर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव होते हैं, साधु साध्वी श्रावक श्राविका होते हैं। राजा प्रजा का व्यवहार होता है। कर्मभूमि में केतु, सेतु और अकेतु (अरकेतु) रूप जमीन होती है। जहां बीज बोने से धान्यादि होते हैं उस भूमि को केतु कहते हैं। जहां जल सींचने से धान्यादि होते हैं उस भूमि को सेतु कहते हैं। जहां बोये बिना ही अङ्कुर धान्य तथा घास फूस आदि उगते हैं उस भूमि को अरकेतु (अकेतु) कहते हैं। इन पन्द्रह कर्मभूमि में पैदा हुए मनुष्य को कर्मभूमिज कहते हैं।

प्र० तीस अकर्मभूमि के क्षेत्र कौन से हैं?

उ० ५ देवकुरु, ५ उत्तरकुरु, ५ हरिवास, ५ रम्यकवास ५ हेमवत और ५ हैरण्यवत ये तीस क्षेत्र अकर्मभूमि के क्षेत्र कहलाते हैं। इन में से एक देवकुरु, एक उत्तरकुरु, एक हरिवास एक रम्यकवास, एक हेमवत और हैरण्यवत ये छह क्षेत्र जम्बूद्वीप में हैं। इन में से दो दो क्षेत्र के हिसाब से बारह क्षेत्र धातकी खण्ड द्वीप में हैं और बारह क्षेत्र अर्द्धपुष्कर द्वीप में हैं।

प्र० अकर्मभूमि किसको कहते हैं?

उ० जहां असि मसि कृषि का कर्म (व्यापार) नहीं होता है उसे अकर्मभूमि कहते हैं। इन क्षेत्रों में उत्पन्न हुए मनुष्यों को अकर्मभूमिज कहते हैं। इन क्षेत्रों में दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं। ये कल्पवृक्ष मन वांच्छित फल देते हैं। इन्हीं से अकर्म

भूमिज मनुष्य अपना निर्वाह करते हैं। कोई भी कर्म (कार्य) न करने से और कल्पवृक्षों द्वारा मनवांच्छित भोग (फल) प्राप्त होने से इन क्षेत्रों को भोगभूमि भी कहते हैं और यहां के उत्पन्न मनुष्यों को भोगभूमिज कहते हैं। यहां पुत्र और पुत्री जोड़े में जन्म लेते हैं इसलिए इन्हें (युगलिया) भी कहते हैं। युगलिया (भाई बहन का जोड़ा) बड़े होकर पतिपत्नी रूप से रहते हैं और अपने जीवन में सिर्फ एक युगल (पुत्रपुत्री) के जोड़े को जन्म देते हैं और फिर दोनों एक साथ ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। युगलियां मर कर देवलोकों में जाते हैं।

उपरोक्त तीस अकर्मभूमि के क्षेत्रों में तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, साधु साध्वी श्रावक श्राविका आदि नहीं होते हैं। राजा प्रजा का व्यवहार नहीं होता है। वहां केतु और सेतु क्षेत्र नहीं होते हैं किन्तु अकेतु (अकेतु) क्षेत्र होता है।

प्र० छप्पन अन्तरद्वीप के क्षेत्र कौन से हैं?

उ० जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की मर्यादा (सीमा) करने वाला चुल्ल हिमवंत नाम का पर्वत है। यह स्वर्ण (सोना) मयीका पीला है, यह सौ योजन ऊंचा है, पच्चीस योजन (सौ कोस) धरती में ऊंडा है। एक हजार बावन योजन बारह कला का चौड़ा है। चौबीस हजार नव सौ बत्तीस योजन का लम्बा है। उसके पूर्व पश्चिम के किनारे पर लवणसमुद्र है

गजदन्ताकार (हाथी के दांत की तरह) दो दो दाढाएं निकली हैं। एक एक दाढा पर सात सात अन्तरद्वीप हैं। इस तरह इसकी चार दाढाओं पर अट्ठाईस अन्तरद्वीप हैं। चुल्लहिमवंत पर्वत की तरह ही ऐरावत क्षेत्र की मर्यादा (सीमा) करनेवाला शिखरी पर्वत है। उसकी ऊंचाई गहराई लम्बाई चौडाई आदि चुल्लहिमवंत पर्वत के समान है। उस शिखरी पर्वत के भी पूर्व पश्चिम के किनारे पर लवण समुद्र में गजदन्ताकार दो दो दाढाएं निकली हैं। एक एक दाढा पर सात सात अन्तरद्वीप हैं। इस तरह इसकी चार दाढाओं पर अट्ठाईस अन्तरद्वीप हैं। इस प्रकार इन दोनों पर्वतों की आठ दाढाओं पर छप्पन अन्तरद्वीप हैं।

प्र० ये अन्तरद्वीप कहां पर हैं?

उ० जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र की मर्यादा करने वाला चुल्लहिमवंत पर्वत है। पूर्व और पश्चिम की तरफ लवण समुद्र के जल से जहा इस पर्वत का स्पर्श होता है वहां इसके दोनों तरफ चारों विदिशाओं में गजदन्ताकार दो दो दाढाएं निकली हुई हैं। एक एक एक दाढा पर सात सात अन्तरद्वीप हैं। इस प्रकार चार दाढाओं पर अट्ठाईस अन्तरद्वीप हैं।

पूर्व दिशा में ईशान कोण में जो दाढा निकली हैं उस पर सात अन्तरद्वीप इस प्रकार हैं–(१) जम्बूद्वीप के जगती के कोट से लवण समुद्र में तीन सौ योजन जाने पर पहला एकोसक नाम वाला अन्तरद्वीप आता है। इसका विस्तार तीन सौ

योजन का और इसकी परिधि कुछ कम ९४९ योजन की है। (२) एकोरुक द्वीप से चार सौ योजन आगे आने पर दूसरा हयकर्ण नाम वाला द्वीप आता है। यह द्वीप जगती के कोट से चार सौ योजन दूर है। यह चार सौ योजन विस्तार वाला है और इसकी परिधि कुछ कम १२६५ योजन की है। (३) हयकर्ण द्वीप से पांच सौ योजन आगे जाने पर तीसरा आदर्शमुख नाम का अन्तरद्वीप आता है। यह जगती के कोट से पांच सौ योजन दूर है। इसका विस्तार (लम्बाई चाडाई) पांच सौ योजन का है और परिधि १५८१ योजन की है। (४) आदर्शमुख अन्तर द्वीप से छह सौ योजन आगे जाने पर चौथा अश्वमुख नाम वाला अन्तरद्वीप आता है। यह जम्बूद्वीप के जगती के कोट से छह सौ योजन दूर है। इसका विस्तार छह सौ योजन का है और परिधि १८९७ योजन की है। (५) चौथे अश्वमुख अन्तरद्वीप से सात सौ योजन आगे जाने पर पांचवां अश्वकर्ण अन्तरद्वीप आता है। यह जम्बूद्वीप के जगती के कोट से सात सौ योजन दूर है। इसका विस्तार सात सौ योजन का है और परिधि २२१३ योजन की है। (६) अश्वकर्ण अन्तरद्वीप से आठ सौ योजन आगे जाने पर छठा उल्कामुख नाम का अन्तरद्वीप आता है। यह जगती के कोट से आठ सौ योजन दूर है। इसका विस्तार आठ सौ योजन का है और परिधि २५२९ योजन की है। (७) उल्कामुख अन्तरद्वीप से नौ सौ योजन आगे

जाने पर सातवां घनदन्त नाम का अन्तरद्वीप आता है। यह जगती के कोट से नौ सौ योजन दूर है। इसका विस्तार नौ सौ योजन का है और परिधि २८४५ योजन की है। इन सातों अन्तरद्वीपों में उत्तरोत्तर सौ सौ योजन का विस्तार बढ़ता गया है और परिधि में उत्तरोत्तर ३१६ योजन बढ़ते गये हैं। जितना इनका विस्तार है उतने ही ये जगती के कोट से दूर हैं।

ईशानकोण की दाढा पर सात अन्तरद्वीप जिस क्रम से स्थित हैं और जितने विस्तार और परिधि वाले हैं। चुल्ल हिमवंत पर्वत की आग्नेय कोण, नैऋत्य कोण और वायव्य कोण की दाढाओं पर भी उसी क्रम से सात सात अन्तरद्वीप हैं। वे भी विस्तार, परिधि और दूरी में इसके अनुसार ही हैं।

चारों कोणों की दाढाओं पर स्थित २८ अन्तरद्वीपों के नाम इस प्रकार हैं—

संख्या	ईशानकोण	आग्नेयकोण,	नैऋत्यकोण,	वायव्यकोण
१	एकोसक	आभासिक	वैषाणिक	नाङ्गेलिक
२	हयकर्ण	गजकर्ण	गोकर्ण	शष्कुलीकर्ण
३	आदर्शमुख	मेघमुख	अयोमुख	गोमुख
४	अश्वमुख	हस्तिमुख	सिंहमुख	व्याघ्रमुख
५	अश्वकर्ण	हरिकर्ण	अकर्ण	कर्णप्रावरण
६	उल्कामुख	मेघमुख	विद्युत मुख	विद्युद्दन्त
७	घनदन्त	लष्टदन्त	गूढदन्त	शुद्धदन्त

चुल्लहिमवन्त पर्वत की तरह ही एरावत क्षेत्र की मर्यादा करनेवाले शिखरी पर्वत के पूर्व पश्चिम के चारों कोणों में चार दाढाएँ हैं और एक एक दाढा पर उपरोक्त प्रकार से उपरोक्त नामवाले सात सात अन्तरद्वीप हैं। इस प्रकार दोनों पर्वतों की आठ दाढाओं पर छप्पन अन्तरद्वीप हैं। ये अन्तरद्वीप लवण समुद्र के पानी की सतह (सपाटी) से ढाई योजन से कुछ अधिक ऊपर हैं। प्रत्येक अन्तरद्वीप चारों तरफ पद्मवर वेदिका से शोभित है और पद्मवरवेदिका भी वनखण्ड से घिरी हुई है।

इन अन्तरद्वीपों में अन्तरद्वीप के नाम वाले ही युगलिया मनुष्य रहते हैं। इनके वज्रऋषभ नाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान होता है। इनकी अवगाहना आठ सौ धनुष की होती है और आयु पल्योपम के असंख्यात भाग प्रमाण है। इनके चौसठ पांसलियां होती हैं। छह मास आयु शेष रहने पर ये युगल सन्तान को जन्म देते हैं। ७९ दिन संतान का पालन करते हैं। फिर वह युगल सन्तान बड़ी हो जाती है और पति पत्नी रूप में रहते हैं। ये अल्पकषायी, सरल और सन्तोषी होते हैं। यहां की आयु भोग कर ये देवलोकों में पैदा होते हैं।

प्र० ये अन्तरद्वीप क्यों कहलाते हैं?

उ० ये लवण समुद्र के बीच में होने से अथवा परस्पर द्वीपों में अंतर (दूरी) होने से ये अंतरद्वीप कहलाते हैं।

अकर्मभूमि की तरह इन अंतरद्वीपों में भी असि, मसि कृषि किसी भी तरह का कर्म (धन्धा) नहीं होता है। यहां पर भी कल्पवृक्ष होते हैं। अन्तरद्वीपों में रहनेवाले मनुष्य अन्तर द्वीपिक कहलाते हैं। ये एकान्त मिथ्यादृष्टि ही होते हैं।

अब सम्मूर्च्छिम मनुष्य के १०१ भेद बतलाये जाते हैं-

बिना माता पिता के उत्पन्न होने वाले अर्थात् स्त्री पुरुष के समागम बिना ही उत्पन्न होने वाले जीव सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं। पैंतालीस लाख योजन परिमाण मनुष्य क्षेत्र में अढाईद्वीप और दो समुद्रों में, पन्द्रह कर्मभूमि, तीस अकर्मभूमि और छप्पन अन्तरद्वीपों में गर्भज मनुष्य रहते हैं। उनके मलमूत्रादि में सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। उनकी उत्पत्ति के स्थान चौदह हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) उच्चारेसु—विष्ठा (मल) में (२) पासवणेसु—मूत्र में (३) खेलेसु—कफ में (४) सिंघाणेसु—नाक के मैल में (५) वंतेसु—वमन में (६) पित्तेसु—पित्त में (७) पूएसु—राध (रसमी, पीप) में और दुर्गन्ध युक्त बिगडे घाव में से निकले हुए खून में (८) सोणिएसु—शोणित (खून) में (९) सुक्केसु—शुक्र (वीर्य) में (१०) सुक्क पुग्गल परिसाडेसु—शुक्र (वीर्य) के सूखे हुए पुद्गलों के वापिस गीले होने (भींजने) पर उनमें (११) विगय जीव कलेवरेसु—जीव रहित शरीर में (१२) इत्थी-पुरिस संजोगेसु—स्त्री पुरुष के संयोग (समागम) में (१३) णगरणिद्धमणेसु—नगर की मोरी (गटर) में (१४) सव्वेसु असुइ

ठाणेसु–सब अशुचि के स्थानों में।

उपरोक्त चौदह स्थानों में एक अन्तर्मुहूर्त में सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। इनकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण होती है। इनकी आयु अन्तर्मुहूर्त की होती है अर्थात् ये अन्तर्मुहूर्त में ही मर जाते हैं। ये असन्नी (मन रहित) मिथ्या दृष्टि अज्ञानी होते हैं। अपर्याप्त अवस्था में ही इनका मरण हो जाता है।

कुल मिलान–१५ कर्मभूमि, ३० अकर्म भूमि, ५६ अन्तरद्वीप ये कुल मिला कर १०१ भेद हुए। ये १०१ गर्भज मनुष्य के अपर्याप्ता और १०१ पर्याप्ता तथा सम्मूर्च्छिम मनुष्य के १०१ अपर्याप्ता, ये सब मिला कर मनुष्य के ३०३ भेद हुए।

देवता के १९८ भेद–

१० भवनपति, १५ परमाधार्मिक, १६ वाणव्यन्तर, १० जृम्भक, १० ज्योतिषी, १२ वैमानिक, ३ किल्विषिक, ९ लोकान्तिक, ९ ग्रैवेयक, ५ अनुत्तर वैमानिक। ये कुल मिला कर ९९ भेद हुए। इनके अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से देवता के १९८ भेद होते हैं।

प्र० दस भवनपति देव कौन से हैं?

उ० दस भवनपति देवों के नाम इस प्रकार हैं–(१) असुरकुमार, (२) नागकुमार, (३) सुवर्ण (सुपर्ण) कुमार, (४) विद्युत्कुमार, (५) अग्निकुमार, (६) द्वीपकुमार, (७) उदधि-

कुमार, (८) दिशाकुमार, (९) वायुकुमार, (१०) स्तनितकुमार।

ये देव प्रायः भवनों में रहते हैं इस लिए इन्हें भवनपति या भवनवासी देव कहते हैं। इस प्रकार की व्युत्पत्ति असुर-कुमारो की अपेक्षा समझनी चाहिये क्योंकि विशेषतः ये ही भवनों में रहते हैं। भवनपति देवों के भवन और आवासों में यह फर्क होता है कि भवन तो बाहर से गोल और अन्दर से चतुष्कोण होते हैं। उनके नीचे का भाग कमल की कर्णिका के आकार वाला होता है। शरीर प्रमाण बड़े, मणि तथा रत्नों के दीपकों से चारों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले मण्डप आवास कहलाते हैं। भवनपति देव भवनों में तथा आवासों में दोनों में रहते हैं।

असुरकुमार देवों के दस अधिपति होते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं-(१) चमरेन्द्र (असुरेन्द्र, असुरराज), (२) सोम, (३) यम, (४) वरुण, (५) वैश्रमण, (६) बलि (बलीन्द्र, वैरो-चनेन्द्र, वैरोचनराज) (७) सोम, (८) यम, (९) वरुण, (१०) वैश्रमण।

असुरकुमारों के प्रधान इन्द्र दो हैं-चमरेन्द्र और बलीन्द्र। इन दोनों इन्द्रों के चार दिशाओं में चार चार लोकपाल हैं। पूर्व दिशा में-सोम, दक्षिण दिशामें-यम, पश्चिम दिशा में वरुण, और उत्तर दिशा में-वैश्रमण देव। दोनों इन्द्रों के लोक-पालों के नाम एक सरीखे हैं। चमरेन्द्र दक्षिणलोकाधिपति है और बलीन्द्र उत्तर लोकाधिपति है। इनके लोकपालों की बहुत

सी ऋद्धि है। इन चारों लोकपालों के चार विमान हैं-(१) सन्ध्याप्रभ, (२) वरशिष्ट, (३) स्वयंजल, (४) वल्गु। इन चारों लोकपालों में से सोम नाम के लोकपाल का सन्ध्याप्रभ विमान दूसरे लोकपालों के विमानों की अपेक्षा बहुत बड़ा है। इसकी अधीनता में अनेक देव रहते हैं। और वे सब देव सोम नामक लोकपाल की आज्ञा का पालन करते हैं।

नागकुमार जाति के देवों में दो इन्द्र हैं-(१) धरणेन्द्र और भूतानन्द। इन दोनों इन्द्रों के चारों दिशाओं में चार चार लोकपाल होते हैं। (१) पूर्वदिशा में कालपाल, (२) दक्षिण दिशा में कोलवाल, (३) पश्चिम दिशा में शैलपाल, (४) उत्तर दिशा में शंखपाल (शंखवाल)।

इस प्रकार धरणेन्द्र (नागकुमारेन्द्र-नागकुमारराज) और भूतानन्द (नागकुमारेन्द्र) हैं, दो इन्द्र और आठ लोकपाल, ये सब मिला कर नागकुमारों के दस अधिपति हैं।

सुपर्ण (सुवर्ण) कुमार जाति के देवों में दो इन्द्र होते हैं-(१) वेणुदेव और (२) विचित्रपक्ष। इन दोनों इन्द्रों के चारों दिशाओं में चार चार लोकपाल (दिग्पाल) होते हैं-(१) पूर्व में वेणुदालि। (२) दक्षिण में चित्र। (३) पश्चिम में विचित्र। (४) उत्तर में-चित्रपक्ष। दो इन्द्र और आठ लोकपाल, ये दस इन के अधिपति हैं।

विद्युत्कुमार जाति के देवों में हरिकान्त और सुप्रभकान्त ये दो इन्द्र हैं। इन दोनों के चार चार लोकपाल हैं-(१)

पूर्व में हरिसिंह, (२) दक्षिण में प्रभ। (३) पश्चिम में सुप्रभ। (४) उत्तर में प्रभाकान्त। दो इन्द्र और आठ लोकपाल, ये दस विद्युत्कुमार जाति के देवों के अधिपति हैं।

अग्निकुमार जाति के देवों में दो इन्द्र हैं—(१) अग्निसिंह और (२) तेजप्रभ। इन दोनों इन्द्रों के चारों दिशाओं में चार चार लोकपाल (दिग्पाल होते हैं। (१) पूर्वदिशा में—अग्निमाणव। (२) दक्षिण दिशा में तेज। (३) पश्चिम दिशामें तेजसिंह। (४) उत्तर दिशा में तेजस्कान्त। दो इन्द्र और आठ लोकपाल ये दश अग्निकुमार जाति के देवों के अधिपति हैं।

द्वीपकुमार जाति के देवों में दो इन्द्र होते हैं। (१) पूर्ण और (२) रूपप्रभ। इन के चारे दिशाओं में चार चार लोकपाल हैं (१) पूर्व में विशिष्ट। (२) दक्षिण में रूप। (३) पश्चिम में रूपाश। (४) उत्तर में रूपकान्त। दो इन्द्र और आठ लोकपाल, ये दस द्वीपकुमार जाति के देवों के अधिपति होते हैं।

उदधिकुमार जाति के देवों में दो इन्द्र होते हैं—(१) जलकान्त और (२) जलप्रभा। इन दोनों के चारों दिशाओं में चार चार लोकपाल होते हैं। (१) पूर्व दिशा में जलप्रभ। (२) दक्षिण दिशा में जल। (३) पश्चिम दिशा में जलरूप। (४) उत्तर दिशा में जलकान्त। दो इन्द्र और आठ लोकपाल, ये दस उदधिकुमार जाति के देवों के अधिपति होते हैं।

दिशाकुमार (दिग्कुमार) जाति के देवों में अमितगति और सिंह विक्रमगति, ये दो इन्द्र होते हैं। इन दोनों इन्द्रों के चारों दिशाओं में चार चार लोकपाल होते हैं-(१) पूर्वदिशा में अमितवाहन। (२) दक्षिण में तूर्यगति। (३) पश्चिम में क्षिप्रगति। (४) उत्तर में सिंहगति। दो इन्द्र और आठ लोकपाल, ये दस दिशाकुमार जाति के देवों के अधिपति होते हैं।

वायुकुमार (पवनकुमार) जाति के देवों में दो इन्द्र होते हैं-(१) वेलम्ब और (२) रिष्ट। इन दोनों इन्द्रों के चारों दिशाओं में चार चार लोकपाल होते हैं-(१) पूर्व दिशा में प्रभञ्जन। (२) दक्षिण दिशा में काल। (३) पश्चिम दिशा में महाकाल। (४) उत्तर दिशा में अञ्जन। इस प्रकार दो इन्द्र और आठ लोकपाल, ये दस वायुकुमार (पवनकुमार) जाति के देवों के अधिपति होते हैं।

स्तनितकुमार जाति के देवों में दो इन्द्र होते हैं-(१) घोष और (२) महानन्द्यावर्त्त। इन दोनों इन्द्रों के चारों दिशाओं में चार चार लोकपाल होते हैं-(१) पूर्व दिशा में महाघोष। (२) दक्षिण दिशा में आवर्त्त। (३) पश्चिम दिशा में व्यावर्त्त और (४) उत्तर दिशा में नन्द्यावर्त्त। इस प्रकार दो इन्द्र और आठ लोकपाल, ये दस स्तनितकुमार जाति के देवों के अधिपति हैं।

प्र० पन्द्रह परमाधार्मिक देव कौन से हैं?

उ० घोर पापाचरण करनेवाले और क्रूर परिणामवाले

असुर जाति के देव जो तीसरी नरक तक नारकी जीवों को विविध प्रकार के दुःख देते हैं, वे परमाधार्मिक (परम अधार्मिक) कहलाते हैं। ये पन्द्रह प्रकार के होते हैं। यथा (१) अम्ब (२) अम्बरीष, (३) श्याम, (४) शवल, (५) रौद्र, (६) उपरौद्र (महारौद्र) (७) काल, (८) महाकाल, (९) असिपत्र, (१०) धनुष, (११) कुम्भ, (१२) बालुक, (१३) वैतरणी, (१४) खरस्वर, (१५) महाघोष। इन परमाधार्मिक देवों के कार्य इस प्रकार हैं—

(१) अम्ब—असुर जाति के जो देव नारकी जीवों को ऊंचा आकाश में ले जा कर एकदम नीचे गिरा देते हैं।

(२) अम्बरीष—जो नारकी जीवों के छुरी आदि से छोटे छोटे टुकडे कर के भाड़ में पकने योग्य बनाते हैं।

(३) श्याम—जो रस्सी या लात घूंसे आदि से नारकी जीवों को पीटते हैं और भयङ्कर स्थानों में पटक देते हैं तथा काले रंग के होते हैं वे श्याम कहलाते हैं।

(४) शवल—जो शरीर की आंतें नसें और कलेजे आदि को बाहर खींच लेते हैं तथा शवल अर्थात् चितकबरे रंगवाले होते हैं उन्हें शवल कहते हैं।

(५) रौद्र—जो भाले में और शक्ति आदि शस्त्रों में नारकी जीवों को पिरो देते हैं। बहुत भयङ्कर होने के कारण उन्हें रौद्र कहते हैं।

(६) उपरौद्र (महारौद्र)—जो नारकी जीवों के अङ्गोपाङ्गों को फोड़ डालते हैं, महाभयङ्कर होने के कारण उन्हें उपरौद्र या महारौद्र कहते हैं।

(७) काल—जो नारकी जीवों को कड़ाई आदि में पकाते हैं। ये काले रङ्ग के होते हैं इसलीए इन्हें काल कहते हैं।

(८) महाकाल—जो नारकी जीवों के मांस के टुकड़े टुकड़े करते हैं और उन्हें खिलाते हैं। वे बहुत काले होते हैं, इस लिए उन्हें महाकाल कहते हैं।

(९) असिपत्र—जो वैक्रिय शक्ति द्वारा असि अर्थात् तलवार के आकार वाले पत्तों से युक्त वन की विक्रिया करके उसमें बैठे हुए नारकी जीवों के ऊपर तलवार सरीखे पत्ते गिरा कर तिल तिल जितने छोटे छोटे टुकड़े कर डालते हैं, वे असिपत्र कहलाते हैं।

(१०) धनुष—जो विक्रिया द्वारा निर्मित धनुष के द्वारा बाणों को छोड़कर नारकी जीवों के कान आदि काट डालते हैं वे धनुष कहलाते हैं।

(११) कुम्भ—जो तलवार द्वारा काटे हुए नारकी जीवों को कुम्भियों में पकाते हैं वे कुम्भ कहलाते हैं।

(१२) वालुक—जो वैक्रिय के द्वारा बनाई हुई कदम्ब पुष्प के आकार वाली अथवा वज्र सरीखी वालू रेत में चनों की तरह नारकी जीवों को भूनते हैं उन्हें वालुक कहते हैं।

(१३) वैतरणी—जो वैक्रिय के द्वारा गर्म किये हुए मांस,

रुधिर, राध, ताम्बा, सीसा आदि गर्म पदार्थों से उबलती हुई नदी में नारकी जीवों को फेंक कर तैरने के लिये कहते हैं वे वैतरणी कहलाते हैं।

(१४) खरस्वर—जो वज्र सरीखे कांटों वाले शाल्मली वृक्षों पर नारकी जीवों को चढा कर कठोर स्वर करते हुए अथवा करुण रुदन करते हुए नारकी जीवों को खींचते हैं।

(१५) महाघोष—जो डर से भागते हुए नारकी जीवों को पशुओं की तरह बाडे में बन्द कर देते हैं तथा जोर से चिल्लाते हुए उन्हें वहीं रोक रखते हैं, उन्हें महाघोष कहते हैं।

वाणव्यन्तर देवों के २६ भेद हैं। यथा—पिशाच आदि आठ (पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व,)। आणपन्ने आदि आठ (आणपन्ने, पाणपन्ने, इसिवाई, भूयवाई, कन्दे, महाकन्दे, कूष्मण्डे, पयंगदेव)। जृम्भक दश (अन्न जृम्भक, पाण जृम्भक, लयन जृम्भक, शयन जृम्भक, वस्त्र जृम्भक, फल जृम्भक, पुष्प जृम्भक, फलपुष्प जृम्भक, विद्या जृम्भक, अग्नि जृम्भक)।

प्र० इन्हें वाणव्यन्तर क्यों कहते हैं ?।

उ० ऊपर बताये हुए छब्बीस भेद वाणव्यन्तर देवों के हैं किन्तु शास्त्रों में इनके तीन विभाग कह बताये गये हैं। यथा जृम्भक पिशाच आदि आठ को वाणव्यन्तर अथवा व्यन्तर कहा गया है। आणपन्ने आदि आठ को गन्धर्व कहा गया है। अन्न जृम्भक आदि दस को जृम्भक कहा गया है।

अब वाणव्यन्तर और व्यन्तर शब्द का अर्थ बताया जाता है।

"वनानामन्तरेषु भवाः वानमन्तराः जो देव वनों के अन्तर में रहते हैं उन्हें वाणमन्तर अथवा वाणव्यन्तर कहते हैं।

व्यन्तर—वि अर्थात् आकाश जिनका अन्तर—अवकाश अर्थात् आश्रय है उन्हे व्यन्तर कहते हैं। अथवा विविध प्रकार के भवन, नगर और आवास रूप जिनका आश्रय है। रत्न-प्रभा पृथ्वी के पहले रत्नकाण्ड में सौ योजन ऊपर और सौ योजन नीचे छोड़कर बाकी बीच के आठ सौ योजन के मध्य-भाग में भवन हैं। तिर्च्छालोक में नगर होते हैं। जैसे कि जम्बूद्वीप के द्वार के अधिपति विजय देव की बारह हजार योजन प्रमाण नगरी है। आवास तीनों लोकों में होते हैं। जैसे कि ऊर्ध्वलोक में पण्डक वन आदि में आवास हैं।

अथवा विगतमन्तरं मनुष्येभ्यो येषां ते व्यन्तराः अर्थात् जिन का मनुष्यों से अन्तर यानी फर्क नहीं रहा, उन्हें व्यन्तर कहते हैं। जैसे कि बहुत से व्यन्तरदेव चक्रवर्ती, वासुदेव आदि की नौकर की तरह सेवा करते हैं, इसलिये मनुष्यों से उन का भेद नहीं है, अथवा 'विविध मन्तरमाश्रय रूपं येषां व्यन्तराः अर्थात् पर्वत, गुफा, वनखण्ड आदि विविध प्रकार के जिनके आश्रय हैं वे व्यन्तर देव कहलाते हैं। उनके आठ भेद हैं—(१) पिशाच, (२) भूत, (३) यक्ष, (४) राक्षस, (५) किन्नर, (६) किम्पुरुष, (७) महोरग, (८) गन्धर्व।

ये सभी व्यन्तर देव मनुष्य क्षेत्रों में इधर उधर घूमते रहते हैं। ये टूटे फूटे घर, जंगल, वृक्ष और शून्य स्थानों में रहते हैं।

रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर के भाग में एक हजार योजन में से सौ योजन ऊपर और सौ योजन नीचे छोड़ कर बीच के आठ सौ योजन तिर्यग्लोक में वाणव्यन्तर देवों के असंख्यात नगर हैं। ये नगर बाहर से गोल, अन्दर से समचौरस तथा नीचे कमल की कर्णिका के आकार वाले हैं। ये पर्याप्त तथा अपर्याप्त व्यन्तर देवों के स्थान बतलाये गये हैं। यहाँ आठों प्रकार के वाणव्यन्तर रहते हैं। गन्धर्व नाम के व्यन्तर देव संगीत में बहुत प्रीति रखते हैं। ये सब बहुत चपल चित्तवाले तथा क्रीड़ा और हास्य को पसन्द करनेवाले हैं। हमेशा विविध आभूषणों से अपना शृंगार करने में अथवा विविध क्रीड़ाओं में लगे रहते हैं। ये विविध चिन्हों-वाले, महाऋद्धि वाले, महा कान्तिवाले, महा यशवाले, महा बलवाले, महा सामर्थ्यवाले तथा महा सुख वाले होते हैं।

वाणव्यन्तर देवों के इन्द्र अर्थात् अधिपतियों के नाम इस प्रकार हैं—पिशाचों के काल और महाकाल। भूतों के सुरूप और प्रतिरूप। यक्षों के पूर्णभद्र और मणिभद्र। राक्षसों के भीम और महाभीम। किन्नरों के किन्नर और किम्पुरुष। किम्पुरुषों के सत्पुरुष और महापुरुष। महोरगों के अतिकाय और महाकाय। गन्धर्वों के गीत रति और गीतयश। काल इन्द्र दक्षिण दिशा का है और महाकाल उत्तर दिशा का। इसी तरह सुरूप और प्रतिरूप आदि को भी जानना चाहिये।

वाणव्यन्तर देवों की स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक पल्योपम की होती है। वाणव्यन्तर देवियों की स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट अर्द्धपल्योपम की होती है।

वाणव्यन्तर देवों में गन्धर्व जाति के देवों के आठ भेद हैं—(१) आणपन्ने (आण पन्निक), (२) पाणपन्ने (पाण-पन्निक), (३) इसिवाई, (ऋषिवादी) भूयवाई (भूतवादी) (५) कंदे (कंदित), (६) महाकंदे (महाकंदित), (७) कुहंड या कुम्हाण्ड (कुष्भाण्ड, (८) पयदेव (प्रेतदेव) या पयंगदेव (पतङ्गदेव)।

जो वाणव्यन्तर देव तरह तरह की राग रागिणीयों में निपुण होते हैं, हमेशा संगीत में लीन रहते हैं उन्हें गन्धर्व कहते हैं। वे बहुत ही चञ्चल चित्त वाले, हंसी खेल पसन्द करने वाले, गम्भीर हास्य और बातचीत में प्रेम रखने वाले, गीत और नृत्य (नाच) मे रुचि रखने वाले। वनमाला आदि सुन्दर सुन्दर आभूषण पहन कर प्रसन्न होने वाले, सभी ऋतुओं के पुष्प पहन कर आनन्द मनाने वाले होते हैं। ये रत्नप्रभा पृथ्वी के एक हजार योजन वाले रत्नकाण्ड में नीचे सौ योजन तथा ऊपर सौ योजन छोड़कर बीच के आठ सौ योजनों में रहते हैं।

इनके इन्द्र अर्थात् अधिपतियों के नाम इस प्रकार हैं— आणपन्ने के सन्निहित और सामान्य। पाणपन्ने के धाता

और विधाता। ऋषिवादी के ऋषि और ऋषिपाल। भूतवादी के ईश्वर और माहेश्वर। क्रन्दित के सुवत्स और विशाल। महाक्रन्दित के हास्य और रति। कोहंड के श्वेत और महा-श्वेत। पयदेव (पतंग देव) के पतङ्ग और पतङ्गपति।

प्र० जृम्भक देव किसे कहते हैं?

उ० अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र प्रवृत्ति करनेवाले अर्थात् निरन्तर क्रीडा में रत रहने वाले देव जृम्भक कहलाते हैं। ये अति प्रसन्नचित्त रहते हैं और मैथुन सेवन की प्रवृत्ति में आसक्त बने रहते हैं। ये तिर्च्छा लोक में रहते हैं। जिन मनुष्यों पर ये प्रसन्न हो जाते हैं उन्हें धन सम्पत्ति आदि से सुखी कर देते हैं और जिन पर ये कुपित हो जाते हैं उनको कई प्रकार से हानि पहुँचा देते हैं। इनके दस भेद हैं

(१) अन्न जृम्भक—भोजन के परिमाण को बढ़ा देना, घटा देना, सरस कर देना, नीरस कर देना आदि की शक्ति (सामर्थ्य) रखने वाले अन्नजृम्भक कहलाते हैं।

(२) प्राण जृम्भक—पानी को घटा देने या बढ़ा देनेवाले देव।

(३) वस्त्रजृम्भक—वस्त्र को घटाने बढ़ाने की शक्ति रखने वाले देव

(४) लयण जृम्भक—घर मकान आदि की रक्षा करने वाले देव।

(५) शयनजृम्भक—शय्या आदि की रक्षा करने वाले देव।

(६) पुष्पजृम्भक—फूलों की रक्षा करने वाले देव।

(७) फलजृम्भक–फलों की रक्षा करने वाले देव।

(८) पुष्पफल जृम्भक–फूलों की और फलों की रक्षा करने वाले देव। कहीं कहीं पर पुष्पफल जृम्भक के स्थानपर 'अन्न जृम्भक' ऐसा नाम भी मिलता है।

(९) विद्याजृम्भक–विद्याओं की रक्षा करनेवाले देव।

(१०) अव्यक्त जृम्भक–सामान्यरूप से सब पदार्थों की रक्षा करने वाले देव। कहीं कहीं 'अव्यक्त जृम्भक' स्थानपर 'अधिपति जृम्भक' ऐसा शब्द है।

ज्योतिषी देवों के पांच भेद हैं–(१) चन्द्र, (२) सूर्य, (३) ग्रह, (४) नक्षत्र (५) तारा। इनके चर (अस्थिर) और अचर (स्थिर) के भेद से दस भेद हो जाते हैं। ये प्रकाश करते हैं, इसलिए ये ज्योतिषी कहलाते हैं।

मनुष्य क्षेत्रवर्ती अर्थात् मानुष्योत्तर पर्वत तक अढाईद्वीप में रहे हुए ज्योतिषी देव सदा मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए चलते रहते हैं। मानुष्योत्तर पर्वत के आगे रहने वाले सभी ज्योतिषी देव स्थिर रहते हैं।

जम्बूद्वीप में दो चन्द्र, दो सूर्य, छप्पन नक्षत्र, एक सौ छिहत्तर ग्रह और एक लाख तेतीस हजार नौ सौ पचास कोडाकोडी तारे हैं। लवण समुद्र में चार, धातकी खण्डद्वीप में बारह, कालोदधि समुद्र में बयालीस और अर्द्धपुष्कर द्वीप में बहत्तर चन्द्र हैं। इन क्षेत्रों में सूर्य की संख्या भी चन्द्र के समान ही है। इस प्रकार अढाई द्वीप में १३२ चन्द्र और १३२ सूर्य हैं।

एक चन्द्र का परिवार २८ नक्षत्र, ८८ ग्रह और ६६९७५ कोड़ाकोड़ी तारा हैं। इस प्रकार अढ़ाईद्वीप में इनसे १३२ गुणा ग्रह, नक्षत्र और तारा हैं।

चन्द्र से सूर्य की गति शीघ्र है। इसी प्रकार सूर्य से ग्रह, ग्रह से नक्षत्र और नक्षत्र से तारा की गति शीघ्र है।

तिर्च्छालोक में मेरु पर्वत के समभूमि भाग से ७९० योजन से ९०० योजन तक यानी ११० योजन की जाडाई (मोटाई) में ज्योतिषी देवों के विमान हैं। समभूमिभाग से ९०० योजन की ऊँचाई तक तिर्च्छालोक है। ज्योतिषी देव भी ९०० योजन की ऊंचाई तक ही हैं। इस प्रकार ज्योतिषी देव तिर्च्छालोक में ही हैं। तिर्च्छालोक की लम्बाई चौडाई करीब एक रज्जु परिमाण है। जहां लोक का अन्त होता है वहां से ११११ योजन इधर अन्दर की तरफ तक ही ज्योतिषी देव हैं अर्थात् ११११ योजन रूप लोक के अन्तिम भाग में ज्योतिषी देव नहीं हैं। आशय यह है कि ज्योतिषी देवों के जो सब से अन्तिम विमान हैं उनसे ११११ योजन रूप लोक के अन्तिम भाग में ज्योतिषी देवों के विमान नहीं है।

वैमानिक देवों के दो भेद हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। कल्प का अर्थ है मर्यादा। जिन देवों में इन्द्र, सामानिक आदि की एवं छोटे बड़े की मर्यादा बन्धी हुई है, उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं। जिन देवों में इन्द्र, सामानिक आदि की एवं छोटे

बड़े की मर्यादा नहीं है अपितु सभी अहमिन्द्र हैं वे कल्पातीत कहलाते हैं।

कल्पोपपन्न देवों के बारह भेद हैं—(१) सौधर्म, (२) ईशान, (३) सनत्कुमार, (४) माहेन्द्र, (५) ब्रह्मलोक, (६) लान्तक, (७) महाशुक्र, (८) सहस्रार (९) आणत (१०) प्राणत (११) आरण (१२) अच्युत। इन सौधर्म आदि विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

तिर्च्छालोक में मेरु पर्वत के समतल भूमिभाग से १॥ डेढ राजू (रज्जु) की ऊंचाई पर सौधर्म और ईशान देवलोक हैं। ढाई राजू पर सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोक हैं। ३। सवा तीन राजू पर ब्रह्म देवलोक। ३॥ साढे तीन राजू पर लान्तक। ३॥। पोने चार राजू पर महाशुक्र। ४ चार राजू पर सहस्रार। ४॥ साढे चार राजू पर आणत और प्राणत। ५ पांच राजू पर आरण और अच्युत देवलोक हैं। कुछ कम सात राजू की ऊंचाई पर लोक का अन्त है। ये विमान चन्द्रमण्डल आदि ज्योतिषी विमानों के ऊपर कई करोड़, कई लाख, कई हजार, कई सौ योजन दूर पर हैं। बारह देवलोकों के ८४९,६७०० विमान हैं। सौधर्म देवलोक से सर्वार्थसिद्ध तक सब देवलोकों के ८४९,७०२३ विमान हैं। सभी विमान रत्नों के बने हुए स्वच्छ, कोमल, स्निग्ध, घिसे हुए, साफ किये हुए, रजरहित, निर्मल, निष्पंक, बिना आवरण की दीप्ति वाले,

प्रभा सहित, शोभा सहित, उद्योत सहित, प्रसन्नता देनेवाले दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप हैं। इनमें देव रहते हैं।

सौधर्म देवलोक के देवताओं के मुकुट में मृग का चिन्ह होता है। ईशान में महिषी (भैंस) का, सनत्कुमार में वराह (सूअर) का, माहेन्द्र में सिंह का, ब्रह्म देवलोक में बकरे का, लान्तक में ढक का, महाशुक्र में घोडे का, सहस्रार में हाथी का, आणत में भुजंग (सर्प) का, प्राणत में मेंढे का, आरण में वृषभ (बैल) का और अच्युत में विडिम (एक प्रकार के मृग) का चिन्ह होता है। इस प्रकार के चिन्हों से चिन्हित मुकुटों को धारण करने वाले, उत्तम कुण्डलों से जाज्वल्यमान मुख वाले, मुकुटों की शोभा को चारों तरफ फैलाने वाले, लाल प्रभा वाले, पद्म की तरह गौर, शुभ वर्ण, शुभ गन्ध और शुभ स्पर्श वाले, उत्तम वैक्रिय शरीर वाले, श्रेष्ठ वस्त्र वाले, महाऋद्धि वाले देव उन विमानों में रहते हैं।

(१) सौधर्म देवलोक–मेरु पर्वत के दक्षिण की ओर रत्नप्रभा के समतल भाग से असंख्यात योजन ऊपर अर्थात् डेढ राजू परिमाण क्षेत्र में सौधर्म नाम का पहला देवलोक आता है। वह पूर्व से पश्चिम लम्बा तथा उत्तर से दक्षिण चौडा है। अर्द्ध चन्द्र की आकृति वाला है। किरण माला अथवा कान्ति पुञ्ज के समान प्रभा वाला है। असंख्यात कोडाकोडी योजन लम्बा तथा विस्तृत है। उसकी परिधि असंख्यात योजन की है। सारा रत्नमय स्वच्छ यावत् अभिरूप प्रतिरूप है। उनमें

बड़े की मर्यादा नहीं है अपितु सभी अहमिन्द्र हैं वे कल्पातीत कहलाते हैं।

कल्पोपपन्न देवों के बारह भेद हैं-(१) सौधर्म, (२) ईशान, (३) सनत्कुमार, (४) माहेन्द्र, (५) ब्रह्मलोक, (६) लान्तक, (७) महाशुक्र, (८) सहस्रार (९) आणत (१०) प्राणत (११) आरण (१२) अच्युत। इन सौधर्म आदि विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

तिर्च्छालोक में मेरु पर्वत के समतल भूमिभाग से १॥ डेढ राजू (रज्जु) की ऊंचाई पर सौधर्म और ईशान देवलोक हैं। ढाई राजू पर सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोक हैं। ३। सवा तीन राजू पर ब्रह्म देवलोक। ३॥ साढे तीन राजू पर लान्तक। ३॥। पोने चार राजू पर महाशुक्र। ४ चार राजू पर सहस्रार। ४॥ साढे चार राजू पर आणत और प्राणत। ५ पांच राजू पर आरण और अच्युत देवलोक हैं। कुछ कम सात राजू की ऊंचाई पर लोक का अन्त है। ये विमान चन्द्रमण्डल आदि ज्योतिषी विमानों के ऊपर कई करोड़, कई लाख, कई हजार, कई सौ योजन दूर पर है। बारह देवलोकों के ८४९,६७०० विमान हैं। सौधर्म देवलोक से सर्वार्थसिद्ध तक सब देवलोकों के ८४९,७०२३ विमान हैं। सभी विमान रत्नों के बने हुए स्वच्छ, कोमल, स्निग्ध, घिसे हुए, साफ किये हुए, रजरहित, निर्मल, निष्पंक, बिना आवरण की दीप्ति वाले,

प्रभा सहित, शोभा सहित, उद्योत सहित, प्रसन्नता देनेवाले दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप हैं। इनमें देव रहते हैं।

सौधर्म देवलोक के देवताओं के मुकुट में मृग का चिन्ह होता है। ईशान में महिषी (भैंस) का, सनत्कुमार में वराह (सूअर) का, माहेन्द्र में सिंह का, ब्रह्म देवलोक में बकरे का, लान्तक में ढक का, महाशुक्र में घोडे का, सहस्रार में हाथी का, आणत में भुजंग (सर्प) का, प्राणत में मेंढे का, आरण में वृषभ (बैल) का और अच्युत में विडिम (एक प्रकार के मृग) का चिन्ह होता है। इस प्रकार के चिन्हों से चिन्हित मुकुटों को धारण करने वाले, उत्तम कुण्डलों से जाज्वल्यमान मुख वाले, मुकुटों की शोभा को चारों तरफ फैलाने वाले, लाल प्रभा वाले, पद्म की तरह गौर, शुभ वर्ण, शुभ गन्ध और शुभ स्पर्श वाले, उत्तम वैक्रिय शरीर वाले, श्रेष्ठ वस्त्र वाले, महाऋद्धि वाले देव उन विमानों में रहते हैं।

(१) सौधर्म देवलोक–मेरु पर्वत के दक्षिण की ओर रत्नप्रभा के समतल भाग से असंख्यात योजन ऊपर अर्थात् डेढ राजू परिमाण क्षेत्र में सौधर्म नाम का पहला देवलोक आता है। वह पूर्व से पश्चिम लम्बा तथा उत्तर से दक्षिण चौडा है। अर्द्ध चन्द्र की आकृति वाला है। किरण माळा अथवा कान्ति पुञ्ज के समान प्रभा वाला है। असंख्यात कोडाकोडी योजन लम्बा तथा विस्तृत है। उसकी परिधि असंख्यात योजन की है। सारा रत्नमय स्वच्छ यावत् अभिरूप प्रतिरूप है। उनमें

सौधर्म देवों के बत्तीस लाख विमान हैं। ये विमान भी रत्नमय तथा स्वच्छ प्रभा वाले हैं। उन विमानों में पांच अवतंसक अर्थात् मुख्य विमान हैं। पूर्व दिशा में अशोकावतंसक, दक्षिण में सप्त पर्णावतंसक, पश्चिम में चम्पकावतंसक और उत्तर में चूयावतंसक (चुतावतंसक) है और सब के बीच में सौधर्मावतंसक है। वे सभी अवतंसक रत्नमय स्वच्छ यावत् प्रतिरूप हैं। यहीं पर पर्याप्त तथा अपर्याप्त सौधर्म देवों के स्थान हैं। उपपात, समुद्घात और स्वस्थान की अपेक्षा वे लोक के असंख्यातवें भाग में हैं। यहीं सौधर्म देव रहते हैं। वे महाऋद्धि वाले यावत् स्वच्छ प्रभा वाले हैं। सौधर्म देवलोक का इन्द्र वहां रहे हुए लाखों विमान, हजारों सामानिक, देव, त्रायस्त्रिंश सामान्य देव यावत् आत्मरक्षक देव एवं बहुत से वैमानिक देव और देवियों का स्वामी है। सौधर्म देवलोक का इन्द्र (राजा) शक्र है। वह हाथ में वज्र धारण किये रहता है। वही पुरन्दर, शतक्रतु, सहस्राक्ष, मघवा, पाकशासन नामवाला है। वह लोक के दक्षिणार्ध का स्वामी है। वह बत्तीस लाख विमानों का अधिपति, ऐरावण हाथी वाहनवाला, देवों का इन्द्र, आकाश के समान निर्मल वस्त्रों को धारण करनेवाला, माला और मुकुट पहने हुए, अद्भुत एवं चञ्चल कुण्डलों से सुशोभित, महाऋद्धि से सम्पन्न, दसों दिशाओं को प्रकाशित करनेवाला, बत्तीस लाख विमान, चौरासी हजार सामानिक देव, तेतीस गुरुस्थानीय त्रायस्त्रिंश देव, चार लोकपाल, दास दासी आदि

वारसहित आठ अग्र महिषियों, तीन परिषदाओं, सात
ीकों (सेनाओं) सात अनीकाधिपतियों और तीन लाख
तीस हजार आत्मरक्षक देवों तथा बहुत से दूसरे वैमानिक
और देवियों का अधिपति है।

(२) ईशान देवलोक—रत्नप्रभा पृथ्वी के समतल भूमि-
ाग से डेढ राजू की ऊंचाई पर मेरु पर्वत के उत्तर में ईशान
ाम का दूसरा देवलोक है। वह पूर्व से पश्चिम लम्बा और
तर से दक्षिण चौड़ा है। असख्यात योजन विस्तीर्ण है इत्यादि
ारी बातें सौधर्म देवलोक सरीखी जाननी चाहिये। इसमें अठाईस
ाख विमान हैं। उन के बीच में पांच अवतंसक हैं—अंकावत-
सक, स्फटिकावतंसक, रत्नावतंसक, जातरूपावतंसक और
च के बीच में ईशानावतंसक है। यहां ईशान नाम का देवेन्द्र
। वह हाथ में शूल धारण किये हुए हैं। इस का वाहन
षभ (बैल) है। वह लोक के उत्तर के आधे भाग का
ाधिपति है।

ईशानेन्द्र अठाईस लाख विमान, अस्सी हजार सामानिक
व, तेतीस त्रायस्त्रिंशक देव, चार लोकपाल, परिवार सहित
आठ अग्रमहिषीयों, तीन परिषदाओं, सात अनीक, सात
अनीकाधिपतियों, तीन लाख बीस हजार आत्मरक्षक देवों
तथा दूसरे बहुत से वैमानिक देव और देवियों का स्वामी है।

(३) सनत्कुमार देवलोक-सौधर्म देवों से असंख्यात
योजन ऊपर सनत्कुमार नाम का तीसरा देवलोक है। लम्बाई

चौडाई आकार आदि में सौधर्म देवलोक के समान है। वह पूर्व से पश्चिम लम्बा है और उत्तर से दक्षिण चौडा है। वहां सनत्कुमार देवों के बारह लाख विमान है। बीच में पांच अवतंसक हैं—अशोकावतंसक, सप्तपर्णावतंसक, चंपकावतंसक, चूयावतंसक और सब के बीच में सनत्कुमारावतंसक है। ये अवतंसक रत्नमय स्वच्छ यावत् प्रतिरूप हैं। यहां पर बहुत देव रहते हैं। वे सभी विशाल ऋद्धि वाले यावत् दसों दिशाओं को सुशोभित करने वाले हैं। वहां देवियाँ नहीं होती है। अत एव इन्द्र के अग्रमहिषीयां भी नहीं होती हैं। वहां देवों का राजा देवराज इन्द्र सनत्कुमार है। वह रजरहित आकाश के समान स्वच्छ वस्त्रों को धारण करता है। उसके बारह लाख विमान, बहत्तर हजार सामानिक देव आदि शक्रेन्द्र की तरह जानना चाहिये। केवल यहां अग्रमहिषियां नहीं होती हैं तथा दो लाख इठियासी हजार आत्मरक्षक देव होते हैं।

(४) माहेन्द्र देवलोक—ईशान देवलोक के असंख्यात योजन ऊपर माहेन्द्र नामक चौथा देवलोक है। वह पूर्व पश्चिम लम्बा है और उत्तर दक्षिण चौडा है। उसमें आठ लाख विमान हैं। बीच में पांच अवतंसक विमान हैं। अंकावतंसक, स्फटिकावतंसक, रत्नावतंसक, जातरूपावतंसक और सब के बीच में माहेन्द्रावतंसक। वहां माहेन्द्र नामक देवेन्द्र देव राजा है। वह आठ लाख विमान, सत्तर हजार सामानिक देव तथा दो लाख अस्सी हजार आत्मरक्षक (अंगरक्षक) देवों का

स्वामी है। बाकी सारा वर्णन सनत्कुमारेन्द्र की तरह जानना चाहिये।

(५) ब्रह्म देवलोक—सनत्कुमार और माहेन्द्र नामक तीसरे चौथे देवलोक से असंख्यात योजन उपर 'ब्रह्म' नामक पांचवां देवलोक आता है। वह पूर्व पश्चिम लम्बा है और उत्तर दक्षिण चौड़ा है। पूर्ण चन्द्रमा के आकार वाला है। इसमें चार लाख विमान हैं। बीच में पांच अवतंसक विमान हैं। चार तो सौधर्म देवलोक के समान हैं, सब के बीच में ब्रह्मलोकावतंसक है। वहां ब्रह्म नामक देवों का इन्द्र रहता है। वह चार लाख विमान, साठ हजार सामानिक देव, दो लाख चालीस हजार आत्मरक्षक (अंगरक्षक) देव तथा दूसरे बहुत से वैमानिक देवों का अधिपति (स्वामी) है।

(६) लान्तक देवलोक—ब्रह्मलोक से असंख्यात योजन ऊपर उसी के समान लम्बाई चौडाई तथा आकारवाला लान्तक नामका छठा देवलोक है। उस में पचास हजार विमान हैं। अवतंसक ईशान देवलोक के समान है किन्तु सब के बीच में लान्तक नाम का अवतंसक है। वहां लान्तक नाम का देवेन्द्र रहता है। वह पचास हजार विमान, पचास हजार सामानिक देव, दो लाख आत्मरक्षक देव तथा दूसरे बहुत से वैमानिक देवों का अधिपति (स्वामी) है।

(७) महाशुक्र देवलोक—लान्तक देवलोक से पाव राजू परिमाण लान्तक देवलोक के समान लम्बाई, चौडाई तथा

आकारवाला महाशुक्र देवलोक है। वहां चालीस हजार विमान हैं। चार अवतंसक तो सौधर्म देवलोक के समान है और सब के बीच में महाशुक्रावतंसक है। उसमें महाशुक्र नाम का इन्द्र रहता है। वह चालीस हजार विमान, चालीस हजार सामानिक देव, एक लाख आठ हजार आत्मरक्षक देव और दूसरे बहुत से वैमानिक देवों का अधिपति (स्वामी) है।

(८) सहस्रार देवलोक—महाशुक्र से पाव राजू ऊपर सहस्रार नामक आठवां देवलोक है। लम्बाई चौडाई और आकार ब्रह्मदेव लोक की तरह है। उसमें छह हजार विमान हैं। चार अवतंसक तो ईशान देवलोक के समान है, सब के बीच में सहस्रावतंसक है। सहस्रार नाम का इन्द्र है। वह छह हजार विमान, तीस हजार सामानिक देव और एक लाख बीस हजार आत्मरक्षक देव तथा दूसरे बहुत से वैमानिक देवों का अधिपति (स्वामी) है।

(९-१०) आणत और प्राणत देवलोक—सहस्रार देवलोक से आधा राजू ऊपर आणत और प्राणत देवलोक हैं। वे पूर्व पश्चिम लम्बे और उत्तर दक्षिण चौडे हैं। अर्द्ध चन्द्र की आकृति वाले हैं। इन दोनों में चार सौ विमान हैं। चार अवतंसक तो सौधर्म देवलोक के समान है, सब के बीच 'प्राणतावतंसक' है। दोनों में प्राणत नाम का एक ही इन्द्र है। वह चार सौ विमान, बीस हजार सामानिक देव, अस्सी हजार आत्मरक्षक देव तथा दूसरे बहुत से वैमानिक देवों का अधिपति है।

(११-१२)-आरण और अच्युत देवलोक आणत और प्राणत देवलोक से आधा राजू ऊपर आरण और अच्युत नाम के ग्यारहवें और बारहवें देवलोक हैं। ये पूर्व पश्चिम लम्बे और उत्तर दक्षिण चौड़े है। अर्द्ध चन्द्र की आकृति वाले हैं। उन दोनों में तीन सौ विमान हैं। बीच में पांच अवतंसक हैं- अङ्कावतंसक, स्फटिकावतंसक, रत्नावतंसक, जातरूपकावतंसक और मध्य के बीच में अच्युतावतंसक है। यहां अच्युत नामक इन्द्र रहता है। वह तीन सौ विमान दस हजार सामानिक देव और चालीस हजार आत्मरक्षक देवों का अधिपति है।

(१) बत्तीस लाख (२) अट्ठाईस लाख (३) बारह लाख (४) आठ लाख (५) चार लाख (६) पचास हजार (७) चालीस हजार (८) चार हजार (९-१०) चार सौ (११-१२) तीन सौ ये कुल मिला कर ८४९६७०० विमान हुए)

सामानिक देवों की संख्या इस प्रकार है-(१) चौरासी हजार (२) अस्सी हजार (३) बहत्तर हजार (४) सत्तर हजार (५) साठ हजार (६) पचास हजार (७) चालीस हजार (८) (९-१०) बीस हजार (११-१२) दस हजार, ये कुल मिला कर पांच लाख सोलह हजार हुए। आत्मरक्षक देवों की संख्या सामानिक देवों से चौगुनी होती है। विमानों की और सामानीक देवों की संख्या के लिए नीचे लिखी गाथाएँ उपयोगी होने से यहां दी जाती हैं।

बत्तीस अट्ठवीसा बारस अट्ठ चउरोय सयसहस्सा।
पण्णा चत्तालीसा, छच्च सहस्सा सहस्सारे ॥ १ ॥
आणयपाणयकप्पे, चत्तारिसया आरणच्चुए तिण्णि।
सत्तविमाणसयाइं, चउसु वि एएसु कप्पेसु ॥ २ ॥
चउरासीइ असीइ, बावत्तरी सत्तरी य सट्ठी य।
पण्णा चत्तालीसा, तीसा वीस दस सहस्सा ॥ ३ ॥
(पन्नवणा सूत्र स्थानपद वैमानिकाधिकार)

स्थिति—वैमानिक देवों की स्थिति जघन्य एक पल्योपम और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है। बारह देवलोकों में जघन्य एक पल्योपम की तथा उत्कृष्ट बाईस सागरोपम की है। सौधर्म देवलोक में देवों की स्थिति जघन्य एक पल्योपम और उत्कृष्ट दो सागरोपम की है। देवियों की स्थिति जघन्य एक पल्योपम की और उत्कृष्ट पचास पल्योपम की है। परिगृहिता देवियों की स्थिति जघन्य एक पल्योपम की और उत्कृष्ट सात पल्योपम की है। अपरिगृहिता देवियों की स्थिति जघन्य एक पल्योपम की और उत्कृष्ट पचास पल्योपम की है।

ईशान नामक दूसरे देवलोक में देवों की स्थिति जघन्य एक पल्योपम झाझेरी (कुछ अधिक) और उत्कृष्ट दो सागरोपम झाझेरी है। परिगृहीता देवियों की स्थिति जघन्य एक पल्योपम झाझेरी और उत्कृष्ट नव पल्योपम की है। अपरिगृहीता देवियों की स्थिति जघन्य पल्योपम झाझेरी और उत्कृष्ट पचपन पल्योपम की होती है।

३ सनत्कुमार देवलोक में स्थिति जघन्य दो सागरोपम उत्कृष्ट सात सागरोपम। ४ माहेन्द्र देवलोक में जघन्य दो सागरोपम झाझेरी, उत्कृष्ट सात सागरोपम झाझेरी। ५ ब्रह्म देवलोक में जघन्य सात सागरोपम, उत्कृष्ट दस सागरोपम। ६ लान्तक देवलोक में जघन्य दस सागरोपम, उत्कृष्ट चौदह सागरोपम। ७ महाशुक्र देवलोक में जघन्य चौदह सागरोपम, उत्कृष्ट सत्तरह सागरोपम। ८ सहस्रार देवलोक में जघन्य सत्तरह सागरोपम, उत्कृष्ट अठारह सागरोपम। ९ आनत देवलोक में जघन्य अठारह सागरोपम, उत्कृष्ट उन्नीस सागरोपम। १० प्राणत देवलोक में जघन्य उन्नीस सागरोपम उत्कृष्ट बीस सागरोपम। ११ आरण देवलोक में जघन्य बीस सागरोपम, उत्कृष्ट इक्कीस सागरोपम। १२ अच्युत देवलोक में जघन्य इक्कीस सागरोपम, उत्कृष्ट बाईस सागरोपम की होती है।

(पन्नवणा सूत्र चौथा स्थिति पद)

परिषदाएँ—सौधर्म देवलोक के अधिपति शक्रेन्द्र की तीन परिषदाएं हैं—आभ्यन्तर परिषद्—समिता। मध्यम परिषद्—चण्डा। बाह्य परिषद्—जाता। आभ्यन्तर परिषद् में बारह हजार देव और सात सौ देवियां हैं। मध्यम परिषदा में चौदह हजार देव और छह सौ देवियां हैं। बाह्य परिषदा में सोलह हजार देव और पांच सौ देवियां हैं। आभ्यन्तर परिषदा में देवों की स्थिति पांच पल्योपम, मध्यम में चार पल्योपम और बाह्य में तीन पल्योपम की है। आभ्यन्तर परिषदा में देवियों की स्थिति

तीन पल्योपम, मध्यम में दो और बाह्य में एक पल्योपम की होती है।

ईशानेन्द्र की तीन परिषदाएं हैं–आभ्यन्तर–शमिता। मध्यम परिषद्–चण्डा। बाह्य–जाया। आभ्यन्तर परिषद् में दस हजार देव और नौ सौ देवियां, मध्यम में बारह हजार देव और आठ सौ देवियां, बाह्य में चौदह हजार देव और सात सौ देवियां होती हैं। आभ्यन्तर परिषद् में देवों की स्थिति सात पल्योपम और देवियों की पांच पल्योपम। मध्यम में देवों की छह और देवीयों की चार पल्योपम बाह्य में देवों की पांच और देवीयों की तीन पल्योपम की स्थिति होती है। बाकी शक्रेन्द्र के समान है।

सनत्कुमारेन्द्र की आभ्यन्तर परिषदा में आठ हजार देव, मध्यम में दस हजार और बाह्य में बारह हजार देव हैं। दूसरे देवलोक से आगे देवियां नहीं होती हैं। आभ्यन्तर परिषदा में स्थिति साढे चार सागरोपम और पांच पल्योपम। मध्यम में साढेचार सागरोपम और चार पल्योपम। बाह्य में साढे चार सागरोपम और तीन पल्योपम की होती है। माहेन्द्र कल्प की आभ्यन्तर परिषदा में छह हजार देव हैं मध्यम में आठ हजार और बाह्य में दस हजार देव हैं। स्थिति सनत्कुमारेन्द्र की परिषदा के समान है। ब्रह्मलोक की आभ्यन्तर परिषदा में चार हजार, मध्यम में छह हजार और बाह्य में आठ हजार देव हैं। आभ्यन्तर परिषद् में स्थिति साढे आठ सागरोपम और पांच पल्योपम। मध्यम में साढे आठ सागरोपम और

चार पल्योपम। बाह्य में साढे आठ सागरोपम और तीन पल्योपम की होती है। लान्तक कल्प की आभ्यन्तर परिषदा में दो हजार देव, मध्यम में चार हजार देव और बाह्य में छह हजार देव हैं। आभ्यन्तर परिषदा में स्थिति बारह सागरोपम और सात पल्योपम। मध्यम में बारह सागरोपम और छह पल्योपम। बाह्य में बारह सागरोपम और पांच पल्योपम की होती है। महाशुक्र कल्प की आभ्यन्तर परिषदा में एक हजार देव, मध्यम में दो हजार और बाह्य में चार हजार देव होते हैं। आभ्यन्तर परिषदा में स्थिति साढे पन्द्रह सागरोपम और पांच पल्योपम। मध्यम में साढे पन्द्रह सागरोपम और चार पल्योपम और बाह्य में साढे पन्द्रह सागरोपम और तीन पल्योपम की होती है। सहस्रार कल्प की आभ्यन्तर परिषदा में पांच सौ देव, मध्यम में एक हजार और बाह्य में दो हजार देव हैं। आभ्यन्तर परिषदा की स्थिति साढे सतरह सागरोपम और सात पल्योपम, मध्यम की साढे सतरह सागरोपम और छह पल्योपम। बाह्य की साढे सतरह सागरोपम और पांच पल्योपम की होती है। आणत और प्राणत देवलोकों की आभ्यन्तर परिषदा में ढाई सौ देव, मध्यम में पांच सौ और बाह्य में एक हजार देव होते हैं। आभ्यन्तर परिषदा की स्थिति साढे अठारह सागरोपम और पांच पल्योपम। मध्यम की साढे अठारह सागरोपम और चार पल्योपम। बाह्य की साढे अठारह सागरोपम और तीन पल्योपम

की होती है। आरण और अच्युत देवलोकों की आभ्यन्तर परिषदा में सवा सौ, मध्यम परिषदा में ढाई सौ और बाह्य में पांच सौ देव होते हैं। आभ्यन्तर परिषदा की स्थिति इक्कीस सागरोपम और सात पल्योपम। मध्यम की इक्कीस सागरोपम और छह पल्योपम और बाह्य की इक्कीस सागरोपम और पांच पल्योपम की होती हैं।

(जीवाभिगम तीसरी प्रतिपत्ति)

सौधर्म और ईशान कल्पो में विमान घनोदधि पर ठहरे हुए हैं। सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक में घनवात पर, लान्तक महाशुक्र और सहस्रार में दोनों पर अर्थात् घनोदधि और घनवात पर। आणत, प्राणत, आरण और अच्युत में आकाश पर ठहरे हुए हैं।

मोटाई और ऊंचाई—सौधर्म और ईशान कल्प में विमानों की मोटाई सत्ताईस सौ योजन और उंचाई पांच सौ योजन की है अर्थात् महल पांच सौ योजन ऊंचे हैं। सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में मोटाई छब्बीस सौ योजन और ऊंचाई छह सौ योजन की है। ब्रह्मलोक और लान्तक में मोटाई पच्चीस सौ योजन की और उंचाई सात सौ योजन की है। महाशुक्र और सहस्रार कल्प में मोटाई चौबीस सौ योजन और उंचाई आठ सौ योजन की है। आणत प्राणत आरण और अच्युत देवलोकों में मोटाई तेईस सौ योजन की और उंचाई नौ सौ योजन की है।

संस्थान—सौधम आदि कल्पों (देवलोकों) में विमान दो तरह के हैं—आवलिकाप्रविष्ट और आवलिका बाह्य। आवलिका प्रविष्ट विमान तीन संस्थान वाले हैं – वृत्त (गोल), त्र्यस्र (त्रिकोण) और चतुरस्र (चौकोण)। आवलिका बाह्य विमान अनेक संस्थानों वाले हैं।

विस्तार—इनमें से बहुत से विमान संख्यात योजन विस्तृत हैं और बहुत से असंख्यात योजन विस्तृत हैं। संख्यात योजन विस्तार वाले विमान जघन्य जम्बूद्वीप जितने बड़े हैं, मध्यम विस्तर वाले ढाईद्वीप जितने बडे हैं और उत्कृष्ट विस्तारवाले असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं।

वर्ण—सौधर्म और ईशानकल्प में विमान पांचों रंग वाले हैं काले, नीले, लाल, पीले और सफेद। सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में चार वर्णवाले हैं, काले नहीं हैं। ब्रह्मलोक और लान्तक में तीन वर्णवाले हैं, काले और नीले नहीं हैं। महाशुक्र और सहस्रार देवलोक में पीले और सफेद दो रंग-वाले हैं। आणत, प्राणत, आरण और अच्युत देवलोक में सिर्फ सफेद रंगवाले विमान हैं। सभी विमान नित्यालोक, नित्य उद्योत तथा स्वयं प्रभावाले हैं। मनुष्यलोक में गुलाब, चमेली, चम्पा, मालती आदि सभी फूलों की गन्ध से भी उन विमानों की गन्ध बहुत उत्तम है। रूई, मक्खन आदि कोमल स्पर्श-वाली सभी वस्तुओं से उन विमानों का स्पर्श बहुत अधिक कोमल है। जो देव एक लाख योजन लम्बे तथा एक लाख

योजन चौड़े जम्बूद्वीप की इक्कीस बार प्रदक्षिणाएं तीन चुटकी बजावे उतने समय में कर सकता है वह अगर उसी गति से सौधर्म और ईशानकल्प के विमानों को पार करने लगे तो छह महिनों में किसी को पार कर सकेगा और किसी को नहीं। ये सभी विमान रत्नों के बने हुए हैं। पृथ्वीकाय के रूप में विमानों के जीव उत्पन्न होते तथा मरते रहते हैं किन्तु विमान शाश्वत हैं।

गतागत—देवगति से चव कर जीव मनुष्य या तिर्यञ्च गति में उत्पन्न होता है। देवगति या नरकगति में नहीं जाता। इसी प्रकार मनुष्य और तिर्यञ्च ही देवगति में जा सकते हैं, देव और नारकी जीव नहीं। तिर्यञ्च आठवें देवलोक तक जा सकते हैं, इस से आगे नहीं।

पहले से ले कर आठवें देवलोक तक एक समय में एक, दो, तीन, संख्यात या असंख्यात तक जीव उत्पन्न हो सकते हैं। आणत, प्राणत, आरण और अच्युत देवलोकों में एक समय में जघन्य एक, दो तथा उत्कृष्ट संख्यात ही उत्पन्न हो सकते हैं, असंख्यात नहीं, क्यों कि—आणत आदि देवलोक में मनुष्य ही उत्पन्न होते हैं और मनुष्यों की संख्या संख्यात है।

संख्या—यदि प्रत्येक समय में असंख्यात देवों का अपहार हो तो सौधर्म और ईशान देवलोक को खाली होने में असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल लग जाय। इसी प्रकार सहस्रार कल्प तक जानना चाहिये। सूक्ष्म क्षेत्र पल्यो-

पम के असंख्यातवें भाग में जितने समय हैं उतने देव आणत, प्राणत, आरण, अच्युत देवलोकों में हैं।

अवगाहना—देवों की अवगाहना दो तरह की है—भवधारणीय और वैक्रिय। सौधर्म और ईशान देवलोकों में भवधारणीय अवगाहना जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग, उत्कृष्ट सात रत्नि (मुण्ड हाथ) की होती है। सनत्कुमार और माहेन्द्र में छह रत्नि, ब्रह्मलोक और लान्तक में पांच रत्नि, महाशुक्र और सहस्रार मे चार रत्नि, आणत, प्राणत, आरण, अच्युत में तीन रत्नि (मुण्ड हाथ) की होती है। उत्तर वैक्रिय अवगाहना सभी देवलोकों में जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट एक लाख योजन की होती है।

संहनन—हड्डियों की रचना विशेष को संहनन कहते हैं। देवों का शरीर वैक्रियक होने के कारण छह संहननों में से उन के कोई संहनन नहीं होता। संसार में जो पुद्गल इष्ट, कान्त, मनोज्ञ, प्रिय तथा श्रेष्ठ हैं वे ही उन के शरीर रूपमें परिणत होते हैं।

संस्थान—सौधर्म ईशान आदि देवलोकों में भवधारणीय संस्थान समचतुरस्र होता है। उत्तर विक्रिया के कारण छहों संस्थान हो सकते हैं क्यों कि—वे अपनी इच्छानुसार रूप बना सकते हैं।

वर्ण—सौधर्म और ईशान कल्प में देवों के शरीर का वर्ण तपे हुए सोने के समान होता है। सनत्कुमार, माहेन्द्र

और ब्रह्मलोक में पद्मकेसर के समान गौर वर्ण होता है। इन से आगे के देवलोकों में उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुक्ल वर्ण होता है।

स्पर्श—उनका स्पर्श स्थिर, मृदु (कोमल) और स्निग्ध होता है।

उच्छ्वास—संसार में जो पुद्गल इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ और मन को प्रीति करनेवाले हैं, वे ही उन के श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत होते हैं।

लेश्या—सौधर्म और ईशानकल्प में मुख्य रूप से तेजोलेश्या रहती है। सनत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक में पद्मलेश्या रहती है। लान्तक से अच्युत देवलोक तक शुक्ललेश्या होती है।

दृष्टि—सौधर्म आदि बारह ही देवलोकों में सम्यग्दृष्टि (समदृष्टि) मिथ्यादृष्टि और सम्यग् मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि तीनों ही प्रकार के देव होते हैं।

ज्ञान—सौधर्म आदि बारह ही देवलोकों में सम्यग्दृष्टि देवों के तीन ज्ञान होते हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधि ज्ञान। मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि देवों में तीन अज्ञान होते हैं—मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंग ज्ञान।

अवधि—सौधर्म और ईशान कल्प में जघन्य अवधि अंगुल के असंख्यातवें भाग होता है। और उत्कृष्ट अवधि (अवधि

ज्ञान और विभङ्ग ज्ञान) नीचे रत्नप्रभा के अधो भाग तक, तिर्च्छा लोक में असंख्यात द्वीप और समुद्रों तक तथा ऊर्ध्व-लोक में अपने विमान के शिखर तक होता है। ऊपर तथा मध्य भाग में सभी देवलोकों में अवधि इसी प्रकार होता है। नीचे सनत्कुमार और माहेन्द्रकल्प में दूसरी पृथ्वी के अधो भाग तक। ब्रह्मलोक और लान्तक में तीसरी पृथ्वी (नरक) के अधो भाग तक। शुक्र और सहस्रार कल्प में चौथी पृथ्वी (नरक) के अधो भाग तक। आणत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पों में पांचवी पृथ्वी (नरक) तक अवधि होता है। इस के लिये ये गाथाएं उपयोगी हैं।

सक्कीसाणा पढमं, दोच्चं य सणंकुमार माहिंदा।
तच्चं य बंभलंतग, सुक्कसहस्सारग चउत्थी ॥ १ ॥

आणयपाणयकप्पे देवा, पासंति पचमीं पुढवीं।
तं चेव आरणच्चुय, ओहिणाणेण पासंति ॥ २ ॥

समुद्घात–सौधर्म आदि बारह ही देवलोकों में देवों के पांच समुद्घात होते हैं–वेदनीय समुद्घात, कषाय समुद्घात मारणान्तिक समुद्घात, वैक्रिय समुद्घात और तैजस समुद्घात।

क्षुधा और पिपासा–सौधर्म आदि बारह ही देवलोकों में देव क्षुधा (भूख) और पिपासा (प्यास) का अनुभव नहीं करते हैं।

विकुर्वणा—देवों में पांच बोल होते हैं—इन्द्र, *सामानिक, तायत्तीसग (त्रायस्त्रिंशक), लोकपाल और अग्रमहिषी देवी। वाणव्यन्तर और ज्योतिषी देवों में तायत्तीसग और लोकपाल नहीं होते हैं, शेष तीन बोल (इन्द्र, सामानिक, अग्रमहिषी) होते हैं। ये सब ऋद्धि परिवार से सहित होते हैं। आवश्यकता पड़ने पर देव और देवी वैक्रिय कर के अनेक रूप बना सकते हैं।

दक्षिण दिशा के चमरेन्द्रजी वैक्रिय कृतरूपों से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को भर देते हैं। तिरछा असंख्याता द्वीप समुद्र भरने की शक्ति है (विषय आसरी), किन्तु कभी भरे नहीं, भरते नहीं और भरेंगे नहीं।

उत्तर दिशा के बलीन्द्रजी वैक्रिय द्वारा जम्बूद्वीप झाझेरा

---

*(१) इन्द्र—देवों के स्वामी को इन्द्र कहते हैं।

(२) सामानिक—जो ऋद्धि आदि में इन्द्र के समान होते हैं किन्तु जिन में सिर्फ इन्द्रपना नहीं होता, उन्हें सामानिक कहते हैं।

(३) तायत्तीसग (त्रायस्त्रिंशक)—जो देव मन्त्री और पुरोहित का कार्य करते हैं वे तायत्तीसग (त्रायस्त्रिंशक) कहलाते हैं।

(४) लोकपाल—जो देव सीमा की रक्षा करते हैं वे लोकपाल कहलाते हैं।

(५) अग्रमहिषी—इन्द्र की पटरानी को अग्रमहिषी कहते हैं।

(कुछ अधिक) जितना क्षेत्र भर देते हैं। तिरछा असंख्याता द्वीप समुद्र भरने की शक्ति है (विषय आसरी) किन्तु कभी भरे नहीं, भरते नहीं और भरेंगे नहीं।

जिस तरह असुरकुमार के इन्द्र का कहा, उसी तरह उन के सामानिक और तायत्तीसग का भी कह देना चाहिये। लोकपाल और अग्रमहिषी की तिरछा संख्याता द्वीप समुद्र भरने की शक्ति है (विषय आसरी) किन्तु कभी भरे नहीं, भरते नहीं और भरेंगे नहीं।

नव निकाय के देवता वाणव्यन्तर और ज्योतिषी देवता एक जम्बूद्वीप भर देते हैं। तिरछा संख्याता द्वीप समुद्र भरने की शक्ति है। (विषय आसरी), किन्तु कभी भरे नहीं, भरते नहीं और भरेंगे नहीं।

पहले देवलोक के पांचों ही बोल (इन्द्र, सामानिक, त्राय-स्त्रिंशक, लोकपाल, अग्रमहिषी) दो जम्बूद्वीप जितना क्षेत्र भर देते हैं। दूसरे देवलोक के देव दो जम्बूद्वीप झाझेरा, तीसरे देवलोक के देव चार जम्बूद्वीप, चौथे देवलोक के देव चार जम्बू-द्वीप झाझेरा, पांचवें देवलोक के देव आठ जम्बूद्वीप, छठे देवलोक के देव आठ जम्बूद्वीप झाझेरा, सातवें देवलोक के देव सोलह जम्बूद्वीप, आठवें देवलोक के देव सोलह जम्बूद्वीप झाझेरा, नववें दशवें देवलोक के देव बत्तीस जम्बूद्वीप और ग्यारहवें बारहवें देवलोक के देव बत्तीस जम्बूद्वीप झाझेरा क्षेत्र भर देते हैं। शक्ति आसरी (विषय आसरी) असंख्याता

द्वीप समुद्र भरने की शक्ति है, किन्तु कभी भी भरे नहीं, भरते नहीं और भरेंगे नहीं।

पहले और दूसरे देवलोक के इन्द्र, सामानिक और त्रायस्त्रिंशक इन तीन को असंख्याता द्वीप समुद्र भरने की शक्ति है और लोकपाल तथा अग्रमहिषी को तिरछा संख्याता द्वीप, समुद्र भरने की शक्ति है। तीसरे देवलोक से बारहवें देवलोक तक सब को (इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंशक, लोकपाल और अग्रमहिषी) तिरछा असंख्याता द्वीप समुद्र भरने की शक्ति है (विषय आसरी) किन्तु कभी भरे नहीं, भरते नहीं और भरेंगे नहीं। बारहवें देवलोक से आगे के देव वैक्रिय नहीं करते हैं।

साता (सुख)—सौधर्म आदि देवलोकों में मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ स्पर्श, यावत् सभी विषय मनोज्ञ और साताकारी होते हैं।

ऋद्धि—सौधर्म आदि सभी देव महाऋद्धिवाले होते हैं।

वेशभूषा—सौधर्म आदि देवों की वेशभूषा दो प्रकार की होती है। भवधारणीय और उत्तर विक्रियारूप। भवधारणीय वेशभूषा आभूषण और वस्त्रों से रहित होते हैं। उन में कोई भी बाह्य उपाधि नहीं होती है। उत्तर-विक्रियारूप वेशभूषा इस प्रकार होती है। उनका वक्षस्थल हार से सुशोभित होता है। वे विविध प्रकार के दिव्य आभूषणों से सुशोभित होते हैं। यावत् दसों दिशाओं को प्रकाशित करते हैं। देवियाँ सोने की झालरों से सुशोभित वस्त्र पहनती हैं। विविध

प्रकार के रत्नजड़ित नूपुर तथा दूसरे आभूषण पहनती हैं। चांदनी के समान सफेद वस्त्र धारण करती हैं।

कामभोग–सौधर्म आदि कल्पों में देव इष्ट शब्द, इष्ट रूप इष्ट गन्ध, इष्ट रस, इष्ट स्पर्श, सभी मनोज्ञ कामभोगों को भोगते हैं।

(जीवाभिगम तीसरी प्रतिपत्ति उ० २)

उपपातविरह और उद्वर्तना विरह–सौधर्म और ईशान देवलोक में उपपात विरहकाल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट २४ मुहूर्त है. अर्थात् चौबीस मुहूर्त के बाद वहां कोई न कोई जीव आ कर अवश्य उत्पन्न होता है। जघन्य विरह सभी देवलोकों में एक समय का है। उत्कृष्ट विरह सनत्कुमार में नौ दिन और बीस मुहूर्त। माहेन्द्र में बारह दिन और दस मुहूर्त। ब्रह्मलोक में साढे बाईस दिन। लान्तक में पैंतालीस दिन। महाशुक्र में अस्सी दिन। सहस्रार में सौ दिन। आणत और प्राणत में संख्यात मास। इन में आणत की अपेक्षा प्राणत में अधिक जानने चाहिये किन्तु वे एक वर्ष से कम ही होते हैं। आरण और अच्युत में संख्यात वर्ष। आरण की अपेक्षा अच्युत में अधिक वर्ष जानने चाहिये किन्तु वे सौ वर्ष से कम ही रहते हैं।

देवगति से चव कर जीवों का दूसरी गति में उत्पन्न होना उद्वर्तना कहलाता है। उद्वर्तना का विरहकाल भी उपपात जितना ही है।

गतागत–सामान्य रूप से देवलोक से चवा हुआ जीव पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय तथा गर्भज पर्याप्त और संख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य एवं तिर्यञ्चों में ही उत्पन्न होता है। देवलोक से चवा हुआ जीव तेउकाय, वायुकाय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, सम्मूर्च्छिम, अपर्याप्त और असंख्यात वर्ष की आयुवाले मनुष्य तथा तिर्यञ्चों में, देवों में तथा नैरयिकों में उत्पन्न नहीं होता है। पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकायमें भी बादर तथा पर्याप्तरूप से ही उत्पन्न होता है। सूक्ष्म पृथ्वीकाय, सूक्ष्म अप्काय, सूक्ष्म वनस्पतिकाय, साधारण वनस्पतिकाय और अपर्याप्त पृथ्वी आदि में उत्पन्न नहीं होता है। सौधर्म और ईशान देवलोक तक के देव ही पृथ्वीकाय आदि में उत्पन्न होते हैं। सनत्कुमार से सहस्रार तक के देव पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं। आणत देवलोक से ले कर ऊपर के देव मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं।

मनुष्य और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च ही देवों में उत्पन्न होते हैं। नारकी, देव या एकेन्द्रिय आदि नहीं हो सकते हैं। तिर्यञ्च भी आठवें देवलोक तक ही जा सकता है, आगे नहीं।

(पन्नवणा सूत्र छठा व्युत्क्रान्तिपद)

अवान्तर भेद—

सौधर्म कल्प से ले कर अच्युत देवलोक तक देवों में दर्जे अथवा पद की अपेक्षा दस भेद हैं–(१) इन्द्र, (२) सामानिक (३) त्रायस्त्रिंश, (४) पारिषद, (५) आत्मरक्षक, (६) लोकपाल

(७) अनीक, (८) प्रकीर्णक, (९) आभियोगिक, (१०) कैल्बिषिक।

प्रवीचार (मैथुनसेवन)—दूसरे ईशान देवलोक तक के देव मनुष्यों की तरह प्रवीचार (मैथुन सेवन) करते हैं। तीसरे सनत्कुमार देवलोक से ले कर आगे के वैमानिक देव मनुष्यों की तरह सर्वाङ्ग स्पर्शद्वारा कामसुख नहीं भोगते हैं। वे भिन्न भिन्न प्रकार से विषयसुख का अनुभव करते हैं। तीसरे और चौथे देवलोक के देवियों के स्पर्श मात्र से कामतृष्णा की शान्ति कर लेते हैं और सुख का अनुभव करते हैं। पांचवें और छठे देवलोक के देव केवल देवियों के सुसज्जित रूप को देख कर तृप्त हो जाते हैं। सातवें और आठवें देवलोक में देवों की कामवासना देवियों के मधुर शब्द सुनने मात्र से शान्त हो जाती है और उन्हें विषयसुख के अनुभव का आनन्द मिलता है। नववें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें देवलोक में देवियों के चिन्तन मात्र से विषयसुख की तृप्ति हो जाती है। इस के लिये उन्हें देवियों को छूने, देखने या उन का स्वर सुनने की आवश्यकता नहीं रहती। देवियों की उत्पत्ति दूसरे देवलोक तक ही होती है। जब ऊपर के देवलोक में रहनेवाले देवों को विषयसुख की इच्छा होती है तो देवियां देवों की उत्सुकता जान कर स्वयं उन के पास पहुंच जाती हैं। ऊपर ऊपर के देवलोकों में स्पर्श, रूप, शब्द तथा चिन्तन मात्र से तृप्ति होने पर भी उत्तरोत्तर सुख अधिक

होता है-इस का कारण स्पष्ट है-जैसे जैसे कामवासना की प्रबलता होती है, वैसे वैसे चित्त में अधिकाधिक आवेग होता है। आवेग जितना अधिक होता है उसे मिटाने के लिये विषयभोग भी उतना ही चाहिये। दूसरे देवलोक की अपेक्षा तीसरे में, तीसरे की अपेक्षा चौथे में, चौथे की अपेक्षा पांचवें में, इस प्रकार उत्तरोत्तर कामवासना मन्द होती है। इस से इन के चित्तसंक्लेश की मात्रा भी कम होती है। इसी लिये इन्हें विषयतृप्ति के लिए अल्प साधनों की ही आवश्यकता रहती है।

सौधर्म आदि देवों में नीचे लिखी सात बातें उत्तरोत्तर बढ़ती जाती —

(१) स्थिति-सभी देवों की आयु पहले बताई जा चुकी है।

(२) प्रभाव-निग्रह अर्थात् किसी पर रुष्ट होकर उसे कष्ट पहुंचाना आदि और अनुग्रह अर्थात् किसी पर प्रसन्न होकर उसे सुख पहुंचाना आदि की शक्ति। अणिमा लघिमा आदि सिद्धियां और बलपूर्वक दूसरे से काम लेने की शक्ति। ये सभी बातें प्रभाव में आती हैं। इस प्रकार का प्रभाव यद्यपि ऊपर वाले देवोंमें अधिक होता है तो भी उनमें अभिमान और संक्लेश की मात्रा कम होती है। इसलिए वे अपने प्रभाव को काम में नहीं लाते हैं।

(३-४) सुख और द्युति-इन्द्रियां द्वारा ग्राह्य इष्ट विषयों

का अनुभव करना सुख है। वस्त्र आभूषण आदि का तेज द्युति है। ऊपर ऊपर के देवलोकों में क्षेत्र स्वभावजन्य शुभ पुद्गल परिणाम की प्रकृष्टता के कारण उत्तरोत्तर सुख और द्युति अधिक होती है।

(५) लेश्या की विशुद्धि—सौधर्म देवलोक से लेकर ऊपर ऊपर के देवलोकों में लेश्या परिणाम अधिकाधिक शुद्ध होते हैं।

(६) इन्द्रिय विषय—इष्ट विषयों को दूर से ग्रहण करने की शक्ति भी ऊपर के देवों में उत्तरोत्तर अधिक होती हैं।

(७) अवधि (अवधिज्ञान और विभङ्ग-ज्ञान)—अवधि भी ऊपर ऊपर अधिक होता है। यह पहले बताया जा चुका है।

नीचे लिखी चार बाबतों में देव उत्तरोत्तर हीन होते हैं—

(१) गति—गमन क्रिया की शक्ति और प्रवृत्ति दोनों ऊपर ऊपर के देवलोकों में कम होती है। ऊपर ऊपर के देवों में महानुभावता, उदासीनता और गम्भीरता अधिक होने के कारण देशान्तर में जाकर क्रीड़ा करने की इच्छा कम होती है।

शरीर परिमाण—शरीर का परिमाण भी ऊपर के देवलोकों में कम होता है। यह बात अवगाहना द्वार में बताई जा चुकी है।

(३) परिग्रह—विमान, परिषदाओं का परिवार आदि परिग्रह

भी उत्तरोत्तर कम होता है। यह भी पहले बताया जा चुका है।

अभिमान—अलङ्कार, स्थान, परिवार, शक्ति, विषय, विभूति, स्थिति, आदि का अभिमान करना। कषाय कम होने के कारण ऊपर ऊपर के देवलोकों में अभिमान कम होता है।

इसके सिवाय ये नीचे लिखी पांच बातें भी जानने योग्य हैं—

(१) उच्छ्वास—जैसे जैसे देवों की स्थिति बढ़ती जाती है उसी प्रकार उच्छ्वास का कालमान भी बढ़ता जाता है। जैसे-दस हजार वर्ष की आयुवाले देवों का एक उच्छ्वास सात स्तोक परिमाण होता है। एक पल्योपम की आयुष्यवाले देवों का एक उच्छ्वास प्रत्येक (पृथक्त्व) मुहूर्त का होता है। सागरोपम की आयुष्य वाले देवों में जितने सागरोपम की आयुष्य होती है उतने पखवाड़ों का एक उच्छ्वास होता है।

(२) आहार—दस हजार वर्ष की आयुष्यवाले देव एक दिन बीच में छोड़ कर आहार लेते हैं। पल्योपम की आयुष्य वाले देव दिवस पृथक्त्व अर्थात् दो दिन से ले कर नौ दिन के अन्तर से आहार ग्रहण करते हैं। सागरोपम की आयुष्य वाले देव जितने सागरोपम की आयु होती है उतने हजार वर्ष के बाद आहार ग्रहण करते हैं।

(३) वेदना-देवों को प्रायः साता वेदनीय का उदय रहता है। कभी असाता वेदनीय का उदय होने पर भी वह अन्तर्मुहूर्त से ले कर छह महीने से अधिक नहीं रहता है।

(४) उपपात-अन्यलिङ्गी पांचवें देवलोक तक उत्पन्न होते हैं। गृहलिङ्गी (श्रावक) बारहवें देवलोक तक और स्वलिङ्गी (दर्शनभ्रष्ट) नव ग्रैवेयक तक उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि साधु सर्वार्थसिद्ध तक उत्पन्न हो सकते हैं। पूर्ण चौदह पूर्वधारी संयमी पांचवें देवलोक से ऊपर ही उत्पन्न होते हैं। तिर्यञ्च आठवें देवलोक तक ही उत्पन्न होते हैं इस से आगे नहीं। (उववाई सूत्र)

(५) अनुभाव-अनुभाव का अर्थ है लोकस्वभाव अर्थात् जगत् धर्म। इसी लोक स्वभाव के कारण विमान तथा सिद्ध-शिला आदि आकाश में बिना आलम्बन ठहरे हुए हैं। तीर्थ-ङ्कर के जन्माभिषेक आदि प्रसंगों पर देवों का आसन कम्पित होना भी लोकस्वभाव का ही कार्य है। आसन कम्पित होने पर अवधिज्ञान से उन की महिमा जान कर बहुत से देव तीर्थङ्कर को वन्दना, स्तुति, उपासना आदि करने के लिए भगवान् के पास आते हैं। कुछ देव अपने ही स्थान पर बैठे हुए अभ्युत्थान (उठना), अञ्जलि कर्म (हाथ जोड़ना), प्रणिपात नमस्कार आदि से तीर्थङ्कर की भक्ति करते हैं। यह सब लोक स्वभाव (लोकानुभाव) का कार्य है।

(पन्नवणा सूत्र) (जीवाभिगम सूत्र)
(तत्त्वार्थ सूत्र चौथा अध्याय)

किल्विपक देवों के तीन भेद हैं। जैसे कि-(१) तीन पलिया (त्रिपल्योपमिक), तीन सागरिया (त्रिसागरिक) (३) तेरह सागरिया, (त्रयोदश सागरिक)। ये नाम उनकी स्थिति अनुसार है। (१) जिन किल्विपक देवों की स्थिति तीन प-ल्योपम की होती है वे तीन पलियां कहलाते हैं। (२) जिन देवों की स्थिति तीन सागरोपम की होती है वे तीन साग-रिया कहलाते हैं। (३) जिन किल्विपिक देवों की स्थिति तेरह सागरोपम की होती है वे तेरह सागरिया कहलाते हैं।

प्र० ये किल्विपिक देव कहां पर रहते हैं ?

उ० वैसे तो भुवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक, चारों ही जाति के देवों में किल्विपिक देव होते हैं। भवनपति, वाणव्यन्तर और ज्योतिषी जाति के किल्वि-पिक देवों के रहने का पृथक् कोई खास स्थान नियत नहीं है। उपर्युक्त किल्विपिक देव वैमानिक जाति के देव हैं। इन में से तीन पल्यिया किल्विपिक देव ज्योतिषी देवों के ऊपर सौधर्म और ईशान नामक पहले और दूसरे देवलोक के नीचे के प्रतर भाग में रहते हैं। तीन सागरिया किल्विपिक देव दूसरे देवलोक से ऊपर सनत्कुमार और माहेन्द्र नामक तीसरे और चौथे देवलोक के नीचे के प्रतर भाग में रहते हैं। तेरह सागरिया किल्विपिक देव पांचवें देवलोक के ऊपर और लान्तक नामक छठे देवलोक के नीचे के प्रतर भाग में रहते हैं।

प्र० किल्विपिक देवों में प्रायः कसे जोव उत्पन्न होते हैं?

उ० जिनेश्वर भगवान् की वाणी के उत्थापक, उत्सूत्र (शास्त्र विरुद्ध) प्ररूपणा करने वाले पापी जीव ही प्रायः किल्विपिक देवों में उत्पन्न होते हैं।

प्र० किल्विपिक देवों का वहां मान सत्कार कैसा होता हैं ?

उ० जैसे यहां ढेढ भंगी का मान सत्कार होता है वैसा ही वहां उन किल्विपिक देवों का होता है। वहां वे विना बुलाये देवों की सभा में जाते हैं, वैठते है, वोल्ते हैं, किन्तु उनकी भाषा किसीको प्रिय नहीं लगती। इसलिये दूसरे देव उन्हें रोक देते हैं।

लौकान्तिक देवों के ९ नौ भेद हैं।

उनके नाम इस प्रकार हैं–(१) सारस्वत, (२) आदित्य (३) वह्नि (४) वरुण (५) गर्द्तोय (६) तुषित (७) अव्यावाध (८) आग्नेय (९) अरिष्ठ।

प्र० लौकान्तिक देव कहां रहते हैं ?

उ० इनमें से पहले के आठ तो कृष्णराजियों के अवका-शान्तरों में आठ लौकान्तिक विमानों में रहते हैं। उन विमानों के नाम इस प्रकार हैं–(१) अर्चि (२) अर्चिमाली (३) वैरो-चन (४) प्रभंकर (५) चन्द्राभ (६) सूर्याभ (७) शुक्राभ (८) सुप्रतिष्टाभ। इनके वीच (मध्य) में रिष्टाभ नामक विमान हैं, उसमें अरिष्ट नामक नवमें लौकान्तिक देव रहते हैं।

प्र० कृष्णराजि किसे कहते हैं?

उ० कृष्ण (काले) वर्ण की सचित अचित पृथ्वी की बनी हुई भींत के आकार व्यवस्थित पंक्तियों को कृष्णराजि कहते हैं।

प्र० ये कृष्णराजियां कहां पर हैं?

उ० सनत्कुमार और माहेन्द्र नामक तीसरे और चौथे देवलोक के ऊपर और ब्रह्मलोक नामक पांचवे देवलोक के नीचे के भाग में रिष्ट विमान नामक पाथड़ा है। वहां पर आखाटक (अखाड़ा) के आकार समचतुरस्र संस्थान वाली आठ कृष्णराजियां हैं। पूर्वादि चारों दिशाओं में दो दो कृष्ण राजियां हैं। पूर्व दिशामें दक्षिण और उत्तर में तिर्च्छि फैली हुई दो कृष्णराजियां हैं। इसी प्रकार दक्षिण दिशामें पूर्व और पश्चिम में तिर्च्छि फैली हुई दो कृष्ण-राजियां हैं. इसी प्रकार पश्चिम दिशा में दक्षिण और उत्तर में तिर्च्छि फैली हुई दो कृष्णराजियां हैं और उत्तर दिशा में पूर्व और पश्चिम में तिर्च्छि फैली हुई दो कृष्ण राजियां हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा की आभ्यन्तर कृष्ण-राजियां क्रमशः दक्षिण, उत्तर, पूर्व और पश्चिम दिशा की बाहर वाली कृष्णराजियों को छूती हुई हैं। जैसे कि पूर्व की आभ्यन्तर कृष्णराजि दक्षिण की बाह्य कृष्णराजि को स्पर्श किये हुए है। इसी प्रकार दक्षिण की आभ्यन्तर कृष्णराजि पश्चिम की बाह्य कृष्णराजि को, पश्चिम की आभ्यन्तर कृष्ण-

राजि उत्तर की बाह्य कृष्णराजि को और उत्तर की आभ्यन्तर कृष्णराजि पूर्व की बाह्य (बाहरी) कृष्णराजि को स्पर्श किये हुए हैं।

इन आठ कृष्णराजियों में पूर्व पश्चिम की दो बाह्य कृष्णराजियां षट्कोणाकार हैं और उत्तर दक्षिण की दो बाह्य कृष्णराजियां त्रिकोणाकार हैं। अन्दर की चारों कृष्णराजियां चतुष्कोण हैं। इन आठ कृष्णराजियों के नाम इस प्रकार हैं—(१) कृष्णराजि, (२) मेघराजि, (३) मघा, (४) माघवती, (५) वात परिघा (६) वात परिक्षोभा, (७) देवपरिघा, (८) देव परिक्षोभा।

ये कृष्णराजियां पृथ्वी के परिणामरूप हैं। इसीलिये जीव और पुद्गल दोनों के विकाररूप हैं।

ये कृष्णराजियां असंख्यात हजार योजन लम्बी हैं और संख्यात हजार योजन चौड़ी हैं। इन की परिधि (घेरा) असंख्यात हजार योजन की है।

(ठाणांग सूत्र आठवां ठाणा)

प्र० इन को लौकान्तिक देव क्यों कहते है ?

उ० पांचवें देवलोक का नाम ब्रह्मलोक है। ये देव ब्रह्म-लोक के अन्त में अर्थात् पास में रहते हैं, इसलिये इन्हें लौका-न्तिक कहते हैं। अथवा ये देव औदायिक भावरूप भावलोक के अन्त में स्थित हैं अर्थात् इन के स्वामीदेव प्रायः एक भवावतारी होते हैं। इसलिए इन्हें लौकान्तिक कहते हैं।

प्र० लौकान्तिक देवों का मानसत्कार कैसा होता है ?

उ० लौकान्तिक देवों का मानसत्कार बहुत अच्छा होता है। इन के मुख्य देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। तथा सभी लौकान्तिक देव भव्य ही होते हैं। अभवी जीव लौकान्तिक देवों में उत्पन्न नहीं होते हैं। जब तीर्थङ्कर के दीक्षा लेने का समय आता है तब ये लौकान्तिक देव मनुष्यलोक में आ कर उन से प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन् ! आप दीक्षा धारण कीजिये और जगज्जीवों के कल्याण के लिये धर्म तीर्थ की स्थापना कीजिये।

ग्रैवेयक देवों के ९ भेद हैं-(१) भद्र, (२) सुभद्र, (३) सुजात, (४) सुमनस, (५) सुदर्शन, (६) प्रियदर्शन, (७) अमोघ, (८) सुप्रतिबद्ध, (९) यशोधर।

इन नौ प्रकार ग्रैवेयक देवों के इन्हीं नामवाले नौ विमान हैं। उनकी तीन त्रिक हैं अर्थात् तीन तीन विमान एक एक पंक्ति में आये हुए हैं। जैसे कि-पहली त्रिक में भद्र, सुभद्र और सुजात, ये तीन हैं। इस पहली त्रिक में १११ विमान हैं। पहली त्रिक के ऊपर दूसरी त्रिक में सुमनस, सुदर्शन और प्रियदर्शन, ये तीन ग्रैवेयक हैं। इस त्रिक में १०७ विमान हैं। दूसरी त्रिक के ऊपर तीसरी त्रिक है उस में अमोघ, सुप्रतिबद्ध और यशोधर ये तीन ग्रैवेयक हैं। इस त्रिक में १०० विमान हैं।

प्र० ग्रैवेयक देव कहां पर हैं ?

उ० ग्रैवेयक देवों के विमान आणत और अच्युत नामक ग्यारवें और बारहवें देवलोक के असंख्यात योजन ऊपर ग्रैवेयक देव हैं। वे तीन त्रिकों में विभक्त हैं।

प्र० इनको ग्रैवेयक क्यों कहते हैं?

उ० लोक का आकार नाचते हुए भोपे के आकार अर्थात् दोनों पैर फैला कर तथा दोनों हाथ कमर पर रख कर खड़े हुए मनुष्य के आकार है। उस मनुष्याकार लोक की ग्रीवा (गर्दन) के स्थान पर ये देव रहते हैं। वहीं इन की उपर्युक्त तीन त्रिकें हैं, इस लिए ग्रीवा के स्थान पर होने के कारण ये ग्रैवेयक कहलाते हैं।

अनुत्तर विमानवासी देवों के पांच भेद हैं। उनके विमानों के नाम इस प्रकार हैं—(१) विजय, (२) वैजयन्त, (३) जयन्त, (४) अपराजित, (५) सर्वार्थसिद्ध। इन विमानों में रहनेवाले देव भी इन्हीं नामोंवाले हैं।

प्र० ये अनुत्तर विमान कहां पर हैं?

उ० नव ग्रैवेयक विमानों से असंख्याता योजन ऊपर अनुत्तर विमान हैं।

प्र० इन विमानों को अनुत्तर विमान क्यों कहते हैं?

उ० ये विमान अनुत्तर अर्थात् सर्वोत्तम होते हैं तथा इन विमानों में रहनेवाले देवों के शब्द, रूप, रस, स्पर्श सर्व श्रेष्ठ होते हैं। इस लिए इन के विमानों को अनुत्तर विमान कहते हैं और इन में रहनेवाले देवों को अनुत्तर विमानवासी देव

कहते हैं। एक बेला (दो उपवास) तप से श्रेष्ठ साधु जितने कर्म क्षीण करता है उतने कर्म जिन मुनियों के बाकी रह जाते हैं वे जीव अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होते हैं। सर्वार्थसिद्ध विमानवासी देवों के जीव तो सात लव की स्थिति के कम रहने से वहां जा कर उत्पन्न होते हैं अर्थात् यहां मनुष्यभव में उनकी आयु यदि सात लव और अधिक होती तो वे सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर मोक्ष में चले जाते। किन्तु यहां इतनी सी आयु और न होने से उनके शुभ पुण्यरूप कर्म बाकी रह जाते हैं। उन्हें भोगने के लिए वे सर्वार्थसिद्ध में उत्पन्न होते हैं। वे एक भवावतारी होते हैं। अर्थात् वहां से चा कर मनुष्य भव में जन्म ले कर मोक्ष चले जाते हैं। इन्हें भव-सत्तम (भवसप्तम) देव भी कहते हैं।

प्र० वैमानिक देवों के विमान किस प्रकार अवस्थित हैं?

उ० ज्योतिषी देवों से डेढ़ राजू (रज्जु) ऊपर अर्थात् असंख्याता योजन ऊपर पहला और दूसरा देवलोक हैं। ये दोनों आसपास समान पङ्क्ति में हैं। दोनों मिलकर पूर्ण चन्द्रमा के आकार हैं। पहले दूसरे देवलोक से असंख्याता योजन ऊपर तीसरा और चौथा देवलोक हैं। ये दोनों भी आसपास समान पंक्ति में हैं अर्थात् पहले देवलोक के ऊपर तीसरा देवलोक है और दूसरा देवलोक के ऊपर चौथा देवलोक है। तीसरे चौथे देवलोक से असंख्याता योजन पनिहारी के सिर पर रखे हुए वे घड़े (एक घड़े के ऊपर

आवेंगे। इसी तरह मेरु पर्वत के उत्तर की तरफ से यदि कोई देव सीधा ऊपर चढे तो उसे बीच में दूसरा, चौथा, पांचवां छठा, सातवां, आठवां, दसवां, बारहवां देवलोक और ग्रैवेयक तथा सर्वार्थसिद्ध विमान आवेंगे।

इस प्रकार १० भवनपति, १५ परमाधार्मिक, १६ वाण-व्यन्तर, १० जृम्भक, १० ज्योतिषी, १२ वैमानिक, ३ किल्बिषिक, ९ लोकान्तिक, ९ ग्रैवेयक, ५ अनुत्तर वैमानिक, ये कुल मिला कर ९९ भेद हुए। इन ९९ के अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से देवता के १९८ भेद होते हैं।

नारकी के	१४
तिर्यञ्च के	४८
मनुष्य के	३०३
देवता के	१९८
	५६३

ये कुल मिला कर जीव के ५६३ भेद होते हैं।

(पन्नवणासूत्र पहला पद)

(उत्तराध्ययन ३६ वां अध्ययन)

(जीवाभिगम सूत्र)

अब यह बतलाया जाता है कि उपरोक्त जीवों के ५६३ भेदों में से कितने कितने भेद कहां कहां पाये जाते हैं?

प्र० भरतक्षेत्र में जीव के कितने भेद पाये जाते हैं ?

उ० भरतक्षेत्र में जीव के ५१ भेद पाये जाते हैं। जैसे कि–४८ तिर्यञ्च के, एक भरतक्षेत्र कर्मभूमि का अपर्याप्ता, पर्याप्ता और सम्मूर्च्छिम। ये ५१ हुए।

प्र० जम्बूद्वीप में जीव के कितने भेद पाये जाते हैं ?

उ० जम्बूद्वीप में जीव के ७५ भेद पाये जाते हैं। जैसे कि–४८ भेद तिर्यञ्च के, एक भरत, एक ऐरावत, एक महा विदेह, एक हैमवत, एक हैरण्यवत, एक हरिवास, एक रम्यकवास, एक देवकुरु, एक उत्तरकुरु, इन नौ के अपर्याप्ता, पर्याप्ता और सम्मूर्च्छिम ये २७। कुल मिलाकर ७५ भेद हुए।

प्र० लवण समुद्र में जीव के कितने भेद पाये जाते हैं ?

उ० लवण समुद्र में जीव के २१६ भेद पाये जाते हैं। जैसे कि–४८ तिर्यञ्च के, छप्पन अन्तरद्वीप के अपर्याप्त पर्याप्त और सम्मूर्च्छिम, ये १६८ कुल मिलाकर २१६ भेद हुए।

प्र० धातकीखण्ड में जीव के कितने भेद पाये जाते हैं ?

उ० धातकीखण्ड में जीव के १०२ भेद पाये जाते हैं। जैसे कि–४८ तिर्यञ्च के, दो भरत, दो ऐरावत, दो महाविदेह, दो हैमवत, दो हैरण्यवत, दो हरिवास, दो रम्यकवास, दो देवकुरु, दो उत्तरकुरु, इन अठारह के अपर्याप्त,

पर्याप्त और सम्मूर्च्छिम, ये ५४ हुए। कुल मिलाकर (४८-५४=१०२) १०२ भेद हुए।

प्र० कालोदधि समुद्र में जीव के कितने भेद पाये जाते हैं?

उ० कालोदधि समुद्र में जीव के ४८ भेद पाये जाते हैं। जैसे कि-४८ तिर्यञ्च के।

प्र० अर्द्ध पुष्करद्वीप में जीव के कितने भेद पाये जाते हैं?

उ० अर्द्धपुष्कर द्वीप में जीव के १०२ भेद पाये जाते हैं। जैसे कि-४८ तिर्यञ्च के, २ भरत, २ ऐरावत, २ हेमवत, २ हैरण्यवत, २ हरिवास, २ रम्यकवास, २ देवकुरु, २ उत्तरकुरु, इन १८ के अपर्याप्त, पर्याप्त और सम्मूर्च्छिम, ये ५४ हुए। कुल मिलाकर १०२ भेद हुए।

प्र० समुच्चय अढाई द्वीप में जीव के कितने भेद पाये जाते हैं?

उ० समुच्चय अढाई द्वीप में जीव के ३५१ भेद पाये जाते हैं। जैसे कि-१०१ अपर्याप्त मनुष्य, १०१ पर्याप्त मनुष्य, १०१ सम्मूर्च्छिम मनुष्य, ये मनुष्य के ३०३ भेद और ४८ तिर्यञ्च के, ये कुल मिलाकर (३०३+४८=३५१) ३५१ भेद हुए।

प्र० अढाई द्वीप के बाहर जीव के कितने भेद पाये जाते हैं?

उ० अढ़ाई द्वीप के बादर जीव के ११८ भेद पाये जाते हैं। जैसे कि–४६ तिर्यञ्च के, (बादर तेउकाय के अपर्याप्त और पर्याप्त, इन दो भेदों को छोड़कर), १६ वाणव्यन्तरदेव, १० जृम्भक देव, १० ज्योतिषी, इन ३६ के अपर्याप्त और पर्याप्त, ७२ हुए। ये कुल मिलाकर (४६+७२=११८) ११८ भेद हुए।

प्र० अधोलोक में जीव के कितने भेद पाये जाते हैं?

उ० अधोलोक में जीव के ११५ भेद पाये जाते हैं। जैसे कि–७ नरक, १५ परमाधार्मिक, १० भवनपति, इन ३२ के अपर्याप्त और पर्याप्त, ये ६४ हुए। ४८ तिर्यञ्च के, ३ मनुष्य के। ये कुल मिलाकर (६४+४८+३=११५) ११५ भेद हुए।

प्र० तिर्च्छालोक में जीव के कितने भेद पाये जाते हैं?

उ० तिर्च्छालोक में जीव के ४२३ भेद पाये जाते हैं। जैसे कि–मनुष्य के ३०३, तिर्यञ्च के ४८। १६ वाणव्यन्तर १० जृम्भक, १० ज्योतिषी, इन ३६ के अपर्याप्त और पर्याप्त ये ७२ हुए। कुल मिलाकर (३०३+४८+७२=४२३) भेद हुए।

प्र० ऊर्ध्वलोक में जीव के कितने भेद पाये जाते हैं?

उ० ऊर्ध्वलोक में जीव के १२२ भेद पाये जाते हैं। जैसे कि–तिर्यञ्च के ४६ (बादर तेउकाय का पर्याप्त और अपर्याप्त इन दो को छोड़कर)। ३ किल्विषी, १२ देवलोक,

९ लौकान्तिक, ९ ग्रैवेयक, ५ अनुत्तर विमान, इन ३८ के अपर्याप्त और पर्याप्त, ये ७६ हुए। कुल मिलाकर (४६+७६=१२२) १२२ भेद हुए।

प्र० सिद्धशिला पर जीव के कितने भेद पाये जाते हैं?

उ० सिद्धशिला पर जीव के १२ भेद पाये जाते हैं। जैसे कि–पांच स्थावर के सूक्ष्म के अपर्याप्त और पर्याप्त, ये १० हुए। बादर वायुकाय के अपर्याप्त और पर्याप्त। ये कुल मिलाकर १२ भेद हुए।

प्र० सातवीं नरक के नीचे जीव के कितने भेद पाये जाते हैं?

उ० सातवीं नरक के नीचे जीव के १२ भेद पाये जाते हैं। जैसे कि–पांच स्थावर सूक्ष्म के अपर्याप्त और पर्याप्त तथा बादर वायुकाय का अपर्याप्त और पर्याप्त। ये कुल मिलाकर १२ भेद हुए। स्वयम्भूरमण समुद्र के अन्त में भी ये ही १२ भेद पाये जाते हैं।

प्र० समुच्चय लोकाकाश में जीव के कितने भेद पाये जाते हैं?

उ० समुच्चय लोकाकाश में जीव के ५६३ भेद पाये जाते हैं।

प्र० मुट्ठी में जीव के कितने भेद पाये जाते हैं?

उ० जीव के १४ भेदों की अपेक्षा जघन्य चार भेद पाये जाते हैं। जैसे कि–सूक्ष्म एकेन्द्रिय और बादर एके-

न्द्रिय के अपर्याप्त और पर्याप्त ये चार भेद। वाटे वहतां (एक गति का आयुष्य पुरा करके दूसरी गति में जाता हुआ) जीवों के आत्म प्रदेशों की अपेक्षा १४ ही भेद पाये जा सकते हैं।

प्र० पर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उ० आहारादि के लिये पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उन्हें आहार शरीर आदि रूप परिणमाने की आत्मा की शक्ति विशेष को पर्याप्ति कहते हैं। इसके छह भेद हैं–

(१) आहार पर्याप्ति–जिस शक्ति से जीव आहार योग्य बाह्य पुद्गलों को ग्रहण करके उसे खलरूप में और रसरूप में बदलता है उसे आहार पर्याप्ति कहते हैं।

(२) शरीर पर्याप्ति–जिस शक्ति द्वारा जीव रस रूप में परिणत आहार को रस, खून, मांस, चरबी, हड्डी, मज्जा और वीर्यरूप सात धातुओं में बदलता है उसे शरीर पर्याप्ति कहते हैं।

(३) इन्द्रिय पर्याप्ति–जिस शक्तिद्वारा जीव सात धातुओं में परिणत आहार को इन्द्रियों के रूप में परिवर्तित करता है उसे इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं, अथवा पांच इन्द्रियों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर के अनाभोग निवर्तित वीर्य द्वारा उन्हें इन्द्रिय रूप में परिणमाने की जीव की शक्ति विशेष को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं।

(४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति–जिस शक्ति के द्वारा जीव

श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलों को श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करता है और छोड़ता है उसे श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं। इसी को आणपाण पर्याप्ति एवं उच्छ्वास पर्याप्ति भी कहते हैं।

(५) भाषापर्याप्ति—जिस शक्ति के द्वारा जीव भाषायोग्य भाषा वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर के उन्हें भाषा के रूप में परिणत करता है और छोड़ता है उसे भाषापर्याप्ति कहते हैं।

(६) मनः पर्याप्ति—जिस शक्ति के द्वारा जीव मन योग्य मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर के उन्हें मन के रूप में परिणत करता है तथा उनका अवलम्बन ले कर छोड़ता है उसे मनः पर्याप्ति कहते हैं।

श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनः पर्याप्ति में अवलम्बन ले कर छोड़ना लिखा है। इस का आशय यह है कि इन के छोडने में शक्ति की आवश्यकता होती है और वह इन्हीं पुद्गलों का अवलम्बन लेने से उत्पन्न होती है। जैसे गेंद पकडते समय हम उसे जोर से पकड़ते हैं और इस से हमें गेंद फेंकने में शक्ति प्राप्त होती है। अथवा—जैसे बिल्ली ऊपर से कूदते समय अपने शरीर को संकुचित कर के उससे सहारा लेती हुई कूदती है।

मृत्यु के बाद जीव अपने उत्पत्ति स्थान में पहुंच कर कार्मण शरीर द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करता है और उनके द्वारा यथायोग्य सभी पर्याप्तियों को बनाना शुरू कर देता

है। औदारिक शरीरधारी जीव के आहार पर्याप्ति एक समय में और शेष अन्तर्मुहूर्त में क्रमशः पूर्ण होती है। वैक्रिय शरीरधारी जीव के आहार पर्याप्ति एक समय में पूर्ण होती है फिर शरीर पर्याप्ति आदि शेष पर्याप्तियां क्रमशः एक एक अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण होती हैं। परन्तु देवों में भाषा और मनः पर्याप्ति पूर्ण होने में विशेष अन्तर नहीं रहता है। इसलिए देवों में ये दोनों पर्याप्तियां युगपत् (एक साथ) पूर्ण होती हैं।

श्री दलपतरायजी के नव तत्त्व में आहार आदि पर्याप्तियों के पूर्ण होने का क्रम* इस प्रकार लिखा है—उत्पत्तिस्थान को प्राप्त करने के बाद १७६ आवलिकाओं से आहारपर्याप्ति पूर्ण होती है। शरीर पर्याप्ति २०८ आवलिकाओं के बाद। इसी प्रकार आगे बत्तीस बत्तीस आवलिकाएं बढ़ाते जाना चाहिए।

इन छह पर्याप्तियों में से एकेन्द्रिय जीव के आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं। विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय के आहार, शरीर, इन्द्रिय, भाषा और श्वासोच्छ्वास ये पांच पर्याप्तियां होती हैं। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के छहों पर्याप्तियां होती हैं।

---

* यह क्रम औदारिक शरीरधारी जीव के लिए ही लागू होना संभव है। वैक्रिय और आहारक शरीरधारी जीव के लिए नहीं, क्यों कि वह तो शरीर पर्याप्ति के सिवाय शेष पांच पर्याप्तियों को एक एक समय में ही पूर्ण कर लेता है।

(पन्नवणा सूत्र पहला पद)
(भगवती शतक ३ उ० १)
(कर्मग्रन्थ प्रथम भाग)

प्र० प्राण किसे कहते हैं?

उ० जिनसे प्राणी जीवित रहे उन्हें प्राण कहते हैं। वे दस हैं—

पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च।
उच्छ्वास निःश्वास मथान्यदायुः॥
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता-
स्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा॥

अर्थ—(१) स्पर्शनेन्द्रिय बलप्राण, (२) रसनेन्द्रिय बलप्राण, (३) घ्राणेन्द्रिय बलप्राण, (४) चक्षुरिन्द्रिय बलप्राण, (५) श्रोत्रेन्द्रिय बलप्राण, (६) काय बलप्राण, (७) वचन बलप्राण, (८) मन बलप्राण, (९) श्वासोच्छ्वास बलप्राण, (१०) आयुष्य बलप्राण।

इन दस प्राणों में से किसी प्राण का विनाश करना हिंसा है। जैन शास्त्रों में प्रायः प्राणातिपात शब्द का प्रयोग होता है इसका आशय यही है कि इन दस प्राणों में से किसी भी प्राण का अतिपात (विनाश) करना ही हिंसा है।

प्र० किन किन जीवों में कितने कितने प्राण पाये जाते हैं?

उ० एकेन्द्रिय जीवों में चार प्राण होते हैं-स्पर्शनेन्द्रिय बलप्राण, काय बलप्राण, श्वासोच्छ्वास बलप्राण, आयुष्य बल-प्राण। बेइन्द्रिय जीवों में छह प्राण होते हैं-चार पूर्वोक्त तथा रसनेन्द्रिय बलप्राण और वचन बलप्राण। तेइन्द्रिय जीवों में सात प्राण होते हैं-पूर्वोक्त छह और घ्राणेन्द्रिय बलप्राण। चौइन्द्रिय में आठ प्राण होते हैं-पूर्वोक्त सात और चक्षुरिन्द्रिय बलप्राण। असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय में नौ प्राण होते हैं-पूर्वोक्त आठ और श्रोत्रेन्द्रिय बलप्राण। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में दस प्राण होते हैं-पूर्वोक्त नौ और मन बल प्राण।

(ठाणांग सूत्र ठा. १ टीका)

(प्रवचन सारोद्धार द्वार १७०)

काल चक्र का वर्णन

बीस कोडाकोडी सागरोपम का एक कालचक्र होता है। काल चक्र के दो विभाग हैं-(१) अवसर्पिणी काल और (२) उत्सर्पिणी काल।

प्र० अवसर्पिणी काल किसे कहते हैं?

उ० जिस काल में जीवों के संहनन और संस्थान क्रमशः हीन होते जाय, आयु और अवगाहना घटती जाय तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार और पराक्रम का ह्रास होता जाय उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं। इस काल में पुद्-गलों के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श हीन होते जाते हैं और अशुभ

भाव बढ़ते जाते हैं। अवसर्पिणी काल दस कोडाकोडी *साग-रोपम का होता है।

अवसर्पिणी काल के छह विभाग होते हैं, जिन्हें 'आरा' कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) सुषमा सुषमा (२) सुषमा (३) सुषम दुषमा (४) दुषम सुषमा (५) दुषमा (६) दुषम दुषमा।

(१) सुषम सुषमा—यह आरा चार कोडाकोडी सागरोपम का होता है। इसमें मनुष्यों की अवगाहना तीन कोस की और आयु तीन पल्योपम की होती है। इस आरे में पुत्र-पुत्री युगल (जोड़ा) रूप से उत्पन्न होते हैं। बड़े होकर वे ही पति पत्नी बन जाते हैं। युगल रूप से उत्पन्न होने के कारण इस आरे के मनुष्य युगलिया कहलाते हैं। मातापिता की आयु जब छह मास शेष रहती है तब एक युगल (पुत्र-पुत्री का जोडा) उत्पन्न होता है। माता पिता ४९ दिन तक उनकी प्रतिपालना करते हैं। तब तक वे स्वयं जवान हो जाते हैं और अलग विचरण करने लग जाते हैं। आयु समाप्ति के समय माता को छींक और पिता को जम्हाई (उबासी) आती है और दोनों एक साथ काल कर जाते हैं। पति का वियोग पत्नी नहीं देखती और पत्नी का वियोग पति नहीं देखता। वे मर कर देवों में उत्पन्न होते हैं। इस

*सागरोपम और पल्योपम का वर्णन कालचक्र के अन्त के बाद दिया गया है।

आरे के मनुष्य दस प्रकार के *कल्पवृक्षों से मनोवांछित सामग्री पाते हैं। तीन दिन के अन्तर से इन्हें आहार की इच्छा होती है। युगलियों के वज्रऋषभ नाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान होता है। इनके शरीर में २५६ पसलियां होती हैं। युगलिया असि, मसि और कृषि कोई कर्म नहीं करते हैं।

इस आरे में पृथ्वी का स्वाद मिश्री आदि मधुर पदार्थों से भी अधिक स्वादिष्ट होता है। पुष्प और फलों का स्वाद चक्रवर्ती के श्रेष्ठ भोजन से भी बढ़कर होता है। भूमिभाग अत्यन्त रमणीय होता है और पांच वर्णवाली विविध मणियों से एवं वृक्षों और पौधों से सुशोभित होता है। सब प्रकार के सुखों से परिपूर्ण होने के कारण यह आरा सुषमा सुषमा कहलाता है।

(२) सुषमा—यह आरा तीन कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। इसमें मनुष्यों की अवगाहना दो कोस की और आयु दो पल्योपम की होती है। पहले आरे के समान इस आरे में भी युगल धर्म रहता है। पहले आरे के युगलियों से इस आरे के युगलियों में इतना ही अन्तर होता है—कि इनके शरीर में १२८ पसलियां होती हैं। माता पिता बच्चों का

---

* कल्पवृक्ष का अर्थ और भेद कालचक्र के वर्णन के बाद दिया गया है।

६४ दिन तक पालन पोषण करते हैं। दो दिन के अन्तर से-आहार की इच्छा होती है। यह आहार भी सुखपूर्ण होता है। शेष सारी बातें स्थूलरूप से पहले आरे जैसी जानना चाहिये। अवसर्पिणी काल होने के कारण इस आरे में पहले की अपेक्षा सब बातों में क्रमशः हीनता होती जाती है।

(३) सुषम दुषमा—यह आरा दो कोडाकोड़ी सागरोपम का होता है। इसमें दूसरे आरे की तरह सुख है परन्तु साथ में दुःख भी है। इस आरे के तीन भाग हैं। प्रथम दो भाग में मनुष्यों की अवगाहना एक कोस की और स्थिति एक पल्योपम की होती है। इन दोनों भागों में युगलिया उत्पन्न होते हैं। उनके शरीर में ६४ पसलियां होती हैं, माता पिता ७९ दिन तक बच्चों का पालन पोषण करते हैं। एक दिन के अन्तर से आहार की इच्छा होती है। पहले दूसरे आरों के युगलियों की तरह ये भी छींक और जंभाई के आने पर काल कर जाते हैं और देवों में उत्पन्न होते हैं। सारी बातें स्थूलरूप से पहले दूसरे आरे जैसी जानना चाहिये। किन्तु सब बातों में पहले की अपेक्षा क्रमशः हीनता होती जाती है।

सुषमदुषमा नामक तीसरे आरे के तीसरे भाग में छहों संहनन और छहों संस्थान होते हैं। अवगाहना एक हजार धनुष से कम रह जाती है। आयु जघन्य संख्यात वर्ष की उत्कृ

असंख्यात वर्ष की होती है। मृत्यु होने पर जीव स्वकृत कर्मानुसार चारों गतियों में जाते हैं। इस भाग में जीव मोक्ष में भी जाते हैं।

वर्तमान अवसर्पिणी के तीसरे आरे के तीसरे भाग की समाप्ति में जब पल्योपम का आठवां भाग शेष रह गया उस समय कल्पवृक्षों की शक्ति कालदोष से न्यून (कम) हो गई। युगलियों में द्वेष और कषाय की मात्रा बढ़ने लगी और वे आपस में विवाद करने लगे। अपने विवादों का निपटारा कराने के लिये उन्होंने 'सुमति' को स्वामीरूप से स्वीकार किया। सुमति प्रथम कुलकर थे। इनके बाद क्रमशः चौदह कुलकर हुए। पहले पांच कुलकरों के शासन में 'हकार' दण्ड था। अर्थात् अपराधी को 'ह' इतना कह देना ही पर्याप्त था फिर वह उस अपराध को नहीं करता था। छठे से दसवें कुलकर तक के शासन में 'मकार' दण्ड था। अर्थात् म-'ऐसा मत करो' इतना कह देना ही पर्याप्त था। फिर वह आगे से वैसा अपराध नहीं करता था। ग्यारहवें से पन्द्रहवें कुलकर तक के शासन में 'धिकार' दण्ड था 'तुमने ऐसा कार्य किया? तुम्हें धिक्कार है' इतना कहना ही पर्याप्त था। चौदहवे कुलकर 'नाभि' थे और पन्द्रहवें कुलकर उनके पुत्र श्रीऋषभदेवस्वामी थे। इनकी माता का नाम मरुदेवी था। ऋषभ देव इस अवसर्पिणी के प्रथम राजा, प्रथम जिन,

प्रथम केवली, प्रथम तीर्थङ्कर और प्रथम चक्रवर्ती थे। इनकी आयु चौरासी लाख पूर्व की थी। इन्होंने बीस लाख पूर्व कुमारावस्था में बिताये और त्रेसठ लाख पूर्व राज्य किया। अपने राजशासनकाल में इन्होंने प्रजाहित के लिये लेख गणित आदि ७२ पुरुष कलाओं का और ६४ स्त्री कलाओं का उपदेश दिया। इसी प्रकार एक सौ शिल्प और असि, मसि, कृषि रूप तीन कर्मों की भी शिक्षा दी। त्रेसठ लाख पूर्व राज्य का उपभोग कर दीक्षा अङ्गीकार की। एक हजार वर्ष तक छद्मस्थ रहे। एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व केवली रहे। चौरासी लाख पूर्व की आयुष्य पूर्ण होने पर निर्वाण-मोक्ष पधारे। भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत महाराज इस आरे के प्रथम चक्रवर्ती थे।

(४) दुषम सुषमा—यह आरा बयालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोड़ी सागरोपम का होता है। इसमें मनुष्यों के छहों संहनन और छहों संस्थान होते हैं। अवगाहना बहुत से धनुषों की होती है और आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक करोड़ *पूर्व की होती है। यहां से आयु पूर्ण करके जीव स्वकृत कर्मानुसार चारों गतियों में जाते हैं और मुक्त होकर सकल दुःखों का अन्त कर देते हैं अर्थात् सिद्ध गति को प्राप्त करते हैं।

*सत्तर लाख करोड़ वर्ष और छप्पन हजार करोड़ वर्ष (७०५६०००००००००००) का एक पूर्व होता है।

वर्तमान अवसर्पिणी के इस आरे में तीन वंश उत्पन्न हुए —अरिहन्त वंश, चक्रवर्ती वंश और दशार वंश। इसी आरे में तेईस तीर्थङ्कर, ११ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव उत्पन्न हुए, दुःख विशेष और सुख कम होनेसे इस आरे को दुष्षमसुषमा कहते हैं।

(५) दुष्षमा—पांचवें आरे का नाम दुष्षमा है। यह इक्कीस हजार वर्ष का है। इस आरे में मनुष्यों के छहों संहनन और छहों संस्थान होते हैं। शरीर की अवगाहना सात हाथ तक की होती है। आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त को और उत्कृष्ट सौ वर्ष झाझेरी होती है। जीव स्वकृत कर्मानुसार चारों गतियों में जाते हैं। चौथे आरे में उत्पन्न कोई जीव मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है, जैसे—जम्बूस्वामी। वर्तमान पंचम आरे के अन्तिम दिन का तीसरा भाग बीत जाने पर गण (समुदाय जाति) विवाह आदि व्यवहार, पाखण्ड धर्म, राजधर्म, अग्नि और अग्नि से होनेवाली रसोई आदि क्रियाएं चारित्र धर्म और गच्छ व्यवहार, इन सभी का विच्छेद हो जायगा। यह आरा दुःख प्रधान है। इस लिए इसे दुष्षमा कहते हैं।

(६) दुष्षमदुष्षमा—अवसर्पिणी काल का दुष्षमा नामक पांचवां आरा बीत जाने पर अत्यन्त दुःखों से परिपूर्ण दुष्षमदुष्षमा नाम का छठा आरा प्रारम्भ होगा, यह आरा इक्कीस हजार वर्ष का है। यह काल मनुष्य और पशुओं के दुःख-

जनित हाहाकार से व्याप्त होगा। इस आरे के प्रारम्भ में धूलिमय भयङ्कर आंधी चलेगी तथा संवर्तक वायु बहेगी। दिशाएं धूलि से भरी होंगी, इसलिए प्रकाश शून्य होंगी। अरस, विरस, क्षार, खात, अग्नि, विद्युत् और विषप्रधान मेघ बरसेंगे। प्रलयकालीन पवन और वर्षा के प्रभाव से विविध वनस्पतियां और त्रस प्राणी नष्ट हो जायेंगे। पहाड़ और नगर पृथ्वी से मिल जायेंगे। पर्वतों में एक वैताढ्य पर्वत स्थिर रहेगा और नदियों में गंगा और सिन्धू नदियों रहेंगी। काल के अत्यन्त रूक्ष होने से सूर्य खूब तपेगा और चन्द्रमा अति शीत होगा। गङ्गा और सिन्धू नदियों का पट रथ के चीले जितना अर्थात् पहियों के बीच के अन्तर जितना चौड़ा होगा और उन में रथ की धुरी प्रमाण गहरा पानी होगा। नदियां मच्छ कच्छपादि जलचर जीवों से भरी होंगी। भरत और एरवर्त क्षेत्र की भूमि अंगार, भोभर तथा तपे हुए तवे के समान होगी। ताप में वह अग्नि जैसी होगी तथा धूलि और कीचड़ से भरी होगी। इस कारण प्राणी पृथ्वी पर कष्ट-पूर्वक चल फिर सकेंगे। इस आरे के मनुष्यों की उत्कृष्ट अवगाहना एक हाथ की होगी और आयु सोलह तथा बीस वर्ष की होगी। वे अधिक सन्तानवाले होंगे। इन के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान सभी अशुभ होंगे। शरीर सब तरह से बेडौल होगा। अनेक व्याधियां घर किये रहेंगी। राग द्वेष कषाय की मात्रा अधिक होगी। धर्म और श्रद्धा

बिल्कुल न रहेगी। वैताढय पर्वत में गङ्गा और सिन्धू महानदियों के पूर्व और पश्चिम तट पर ७२ बिल हैं वे ही इस काल के मनुष्यों के निवासस्थान होंगे। वे लोग सूर्योदय और सूर्यास्त के समय अपने अपने बिलों से निकलेंगे और गङ्गा और सिन्धू महानदियों से मच्छ कच्छपादि पकड़ कर रेत में गाड़ देंगे। शाम के गाड़े हुए मच्छ कच्छपादि को सुबह निकाल कर खायेंगे और सुबह के गाडे हुए मच्छ कच्छपादि को शाम को निकाल कर खायेंगे। वे व्रत नियम प्रत्याख्यानादि से रहित, मांस का आहार करनेवाले, संक्लिष्ट परिणामवाले होंगे, वे मर कर प्रायः नरक और तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होंगे।

(जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति)

(ठाणांग ६) (भग० श० ७ उ० ६)

उत्सर्पिणी काल के छह आरे—

प्र० उत्सर्पिणीकाल किसे कहते हैं ?

उ० जिस काल में जीवों के संहनन और संस्थान क्रमशः अधिकाधिक शुभ होते जाय, आयु और अवगाहना बढ़ती जाय तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार और पराक्रम की वृद्धि होती जाय वह उत्सर्पिणी काल है। जीवों की तरह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श भी इस काल में क्रमशः शुभ होते जाते हैं। अशुभतम भाव, अशुभतर, अशुभ, शुभ, शुभतर होते हुए यावत् शुभतम हो जाते हैं। अवसर्पिणी-

काल में क्रमशः ह्रास होते हुए हीनतम अवस्था आ जाती है और उत्सर्पिणी काल में उत्तरोत्तर वृद्धि होते हुए क्रमशः उच्चतम अवस्था आ जाती है।

अवसर्पिणी काल के जो छह आरे हैं वे ही और उत्सर्पिणी काल में व्यत्यय (उल्टे) रूप से होते हैं। इसका पहला आरा अवसर्पिणी के छठे आरे जैसा है। छठे आरे के अन्त समय में जो हीनतम अवस्था होती है उससे इसके पहले आरे का प्रारम्भ होता है और क्रमिक विकास द्वारा बढ़ते बढ़ते छठे आरे की प्रारम्भिक अवस्था के आने पर यह आरा समाप्त होता है। इसी प्रकार शेष आरों में भी क्रमिक विकास से प्रारम्भिक अवस्था को पहुंचते हैं। यह काल भी अवसर्पिणी काल की तरह दस कोडाकोडी सागरोपम का है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में जो अन्तर है, वह नीचे लिखे अनुसार है—

उत्सर्पिणी के छह आरे—(१) दुष्पम दुष्पमा, (२) दुष्पमा (३) दुष्पम सुपमा (४) सुपम दुष्पमा (५) सुपमा (६) सुपम सुपमा।

(१) दुष्पम दुष्पमा—अवसर्पिणी काल का छठा आरा असाढ़ सुदी पूनम (पूर्णिमा) को समाप्त होता है और सावण वदी एकम को चन्द्रमा के अभिजित नक्षत्र में होने पर उत्सर्पिणी का दुष्पमदुष्पमा नामक प्रथम आरा प्रारंभ होता है। यह आरा अवसर्पिणी के छठे आरे जैसा है, इसमें पदार्थों के वर्ण गंध रस स्पर्श आदि पर्यायों में और जीवों की अवगाहना, स्थिति,

संहनन, संस्थान आदि में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है यह आरा इक्कीस हजार वर्ष का है।

(२) दुष्षमा–इस आरे के प्रारम्भ में सात दिन तक भरतक्षेत्र जितने विस्तारवाले पुष्कर संवर्तक मेघ वरसगे। सात दिन की इस वर्षा से पहले आरे के अशुभ भाव, रूक्षता, उष्णता आदि नष्ट हो जावेंगे। इस के बाद सात दिन तक क्षीर मेघ की वर्षा होगी। इससे शुभ वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की उत्पत्ति होगी। सात दिन तक घृत मेघ बरसेगा। इस वर्षा से पृथ्वी में स्नेह (चिकनाहट) उत्पन्न हो जायगा। इस के बाद सात दिन तक अमृतमेघ वृष्टि करेगा, जिसके प्रभाव से वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता आदि वनस्पतियों के अंकुर फूटेंगे। अमृतमेघ के बाद सात दिन तक रसमेघ बरसेगा इस वर्षा से वनस्पतियों में पांच प्रकार का रस उत्पन्न होगा और उन में पत्र, प्रवाल, अंकुर, पुष्प, फल की वृद्धि होगी

इस प्रकार वर्षा होने पर जब पृथ्वी सरस हो जायगी तथा वृक्ष लता आदि विविध फल फूलों से हरी भरी और रमणीय हो जायगी, तब वे बिलवासी लोग बिलों से बाहर निकलेंगे, वे पृथ्वी को सरस, सुंदर और रमणीय देख कर बहुत प्रसन्न होंगे। एक दूसरे को बुलावेंगे और खूब खुशियां मनावेंगे। पत्र, पुष्प, फल आदि से शोभित वनस्पतियों से अपना निर्वाह होते देख कर वे सब मिल कर यह मर्यादा

बांधेंगे कि आज से हम मांसाहार नहीं करेंगे और यहां तक कि मांसाहारी प्राणी की छाया में खड़े तक नहीं रहेंगे।

इस प्रकार इस आरे में पृथ्वी रमणीय हो जायगी। प्राणी सुखपूर्वक रहने लगेंगे। इस आरे के मनुष्यों के छहों संहनन और छहों संस्थान होंगे। उनकी अवगाहना बहुत से हाथ की और आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सौ वर्ष झाझेरी होगी। इस आरे के जीव मर कर स्वकृत कर्मानुसार चारों गतियों में उत्पन्न होंगे, सिद्ध नहीं होंगे। यह आरा इक्कीस हजार वर्ष का होगा।

(३) दुष्पमसुषमा—यह आरा बयालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागरोपम का होगा। इसका स्वरूप अवसर्पिणी काल के चौथे आरे के समान जानना चाहिये। इस आरे के मनुष्यों के छहों संहनन और छहों संस्थान होंगे। मनुष्यों की अवगाहना बहुत से धनुषों की होगी। आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक करोड़ पूर्व की होगी। मनुष्य मर कर स्वकृत कर्मानुसार चारों गतियों में जायेंगे और बहुत से सिद्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्त करेंगे। इस आरे में तीन वंश होंगे-तीर्थङ्कर वंश, चक्रवर्ती वंश, और दशार वंश। इस आरे में तेईस तीर्थंकर, ग्यारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव और नौ प्रतिवासुदेव होंगे।

(४) सुषमदुष्पमा—यह आरा दो कोडाकोडी सागरोपम का होगा। सारी बातें अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे

के समान होंगी। इस के भी तीन भाग होंगे किन्तु उनका क्रम उल्टा होगा। अवसर्पिणी के तीसरे भाग के समान इस आरे का प्रथम भाग होगा। इस आरे में ऋषभदेवस्वामी के समान चौवीसवें तीर्थङ्कर श्री भद्रकृतस्वामी होंगे। शिल्पकला आदि तीसरे आरे से चले आयेंगे इसलिये उन्हें शिल्पकला आदि का उपदेश देने की आवश्यकता नहीं होगी। कहीं कहीं पन्द्रह कुलकर उत्पन्न होने की बात लिखी है। वे लोग क्रमशः धिकार, मकार और हकार का दण्डप्रयोग करेंगे। इस आरे के तीसरे भाग में राजधर्म यावत् चारित्रधर्म का विच्छेद हो जायगा। दूसरा और तीसरा त्रिभाग अवसर्पिणी के तीसरे आरे के दूसरे और पहले त्रिभाग के सदृश होंगे।

(५-६) सुषमा नामक पांचवा आरा और सुषम सुषमा नामक छठा आरा अवसर्पिणी काल के दूसरे और पहले आरे के समान होंगे।

विशेषावश्यक भाष्य में सामायिक चारित्र की अपेक्षा काल के चार भेद किये गये हैं-(१) उत्सर्पिणी काल (२) अवसर्पिणी काल (३) नो उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल (४) अकाल।

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का वर्णन पहले किया जा चुका है।

महाविदेह आदि क्षेत्रों में जहां एक ही आरा रहता है अर्थात् उन्नति और अवनति नहीं है उस जगह के काल को

नो उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल कहते हैं। अढाईद्वीप से बाहर के द्वीप समुद्रो में जहां सूर्य चन्द्र आदि स्थिर रहते हैं और मनुष्यों का निवास नहीं है उस जगह अकाल है अर्थात् तिथि, पक्ष, मास, वर्ष आदि कालगणना नहीं है।

सामायिक के चार भेद हैं–(१) सम्यक्त्व सामायिक, (२) श्रुतसामायिक, (३) देशविरति सामायिक, (४) सर्वविरति सामायिक।

सामायिक के पहले दो भेद सभी आरों में होते हैं। देशविरति और सर्वविरति सामायिक उत्सर्पिणी काल के दुष्षम सुषमा और सुषम दुष्षमा आरों में तथा अवसर्पिणी के सुष्षम दुष्षमा, दुष्षम सुषमा और दुष्षमा आरों में होते हैं अर्थात् इन आरों में चारों सामायिकवाले जीव होते हैं।

नो उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल के क्षेत्र की अपेक्षा चार भाग हैं। देवकुरु और उत्तरकुरु में हमेशा सुषमसुषमा आरा जैसा भाव रहता है। हरिवर्ष और रम्यक वर्ष में सुषमा आरा जैसा भाव रहता है। हैमवत और हैरण्यवत में सुषम दुष्षमा आरा जैसा भाव रहता है। पांच महाविदेह क्षेत्रों में हमेशा दुष्षम सुषमा आरा जैसा भाव रहता है। इन सभी क्षेत्रों में उत्सर्पिणी अर्थात् उत्तरोत्तर वृद्धि और अवसर्पिणी अर्थात् उत्तरोत्तर ह्रास न होने से सदैव एक ही आरे जैसे भाव रहते हैं। इसलिये वहां का काल नो उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कहा जाता है। भरत आदि पन्द्रह कर्मभूमियों की जिस आरे के

साथ वहां की समानता है, वही आरा उस क्षेत्र में बताया गया है अर्थात् उस क्षेत्र में उस आरे जैसे भाव होते हैं। इनमें भोगभूमियों के छहों क्षेत्रों में अर्थात् तीन आरों में श्रुत और समकित सामायिक ही होते हैं। महाविदेह क्षेत्र में जहाँ सदा दुष्षम सुषमा आरे सरीखे भाव रहते हैं, वहां चारों प्रकार की सामायिक वाले जीव होते हैं।

जहाँ सूर्य चन्द्र आदि नक्षत्र स्थिर हैं उन द्वीप समुद्रों में सूर्य चन्द्र की गति न होने से अकाल कहा जाता है। वहाँ सर्वविरति चारित्र सामायिक के सिवाय बाकी तीनों सामायिक मत्स्यादि जीवों में होते हैं। नन्दीश्वर द्वीप में विद्याचारण आदि मुनियों के किसी कार्यवश जाने से वहाँ सर्वविरति चारित्र सामायिक भी कहा जा सकता है। इसी तरह पूर्वधर भी वहाँ हो सकते हैं। देवता द्वारा हरण होने पर जो सभी क्षेत्रों में सभी सामायिक पाये जा सकते हैं।

(जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वक्षस्कार २)

(विशेषावश्यक भाष्यगाथा २७०८ से २७१०)

प्र० अबाधा काल किसे कहते हैं ?

उ० बंधा हुआ कर्म जबतक उदय में न आवे तबतक के काल को अबाधा काल कहते हैं अर्थात् बंधा हुआ कर्म जबतक जीव को बाधा न पहुंचावे तब तक के काल को अबाधा काल कहते हैं।

प्र० किस किस कर्म का कितना कितना अबाधा काल है ?

उ० ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन कर्मों का उत्कृष्ट अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है।

वेदनीय कर्म के दो भेद हैं—साता वेदनीय और असाता वेदनीय। साता वेदनीय का अबाधा काल पन्द्रह सौ वर्ष का है और असाता वेदनीय का अबाधा काल तीन हजार वर्ष का है। मोहनीय कर्म का अबाधा काल सात हजार वर्ष का है। आयुष्य कर्म का अबाधा काल नहीं है। नाम कर्म का अबाधा काल दो हजार वर्ष का है। गोत्र कर्म का अबाधा काल दो हजार वर्ष का है। अन्तराय कर्म का अबाधा काल तीन हजार वर्ष का है।

जिस कर्म की स्थिति जितने कोडाकोडी सागरोपम की होती है उतने ही सौ वर्ष का अबाधा काल होता है। जैसे कि ज्ञानावरणीय कर्म की स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम की है तो इसका अबाधाकाल तीस सौ वर्ष अर्थात् तीन हजार वर्ष का है। इसी तरह सब कर्मों के विषय में समझ लेना चाहिये।

प्र० सागरोपम किसे कहते हैं?

उ० दस कोडाकोडी पल्योपम का एक सागरोपम होता है, सागरोपम का स्वरूप समझने के लिए पहले पल्योपम का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है ताकि फिर सागरोपम आसानी से समझा जा सके।

प्र० पल्योपम किसे कहते हैं?

उ० एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे गोलाकार पल्य (कूप-कूआ) की उपमा से जो काल गिना जाय उसे पल्योपम कहते हैं। पल्योपम के तीन भेद हैं। (१) उद्धार पल्योपम, (२) अद्धा पल्योपम, (३) क्षेत्र पल्योपम।

(१) उद्धार पल्योपम—[1]उत्सेधाङ्गुल परिमाग से एक योजन लम्बा, एक योजन चौडा और एक योजन गहरा कूआ एक दो तीन यावत् सात दिनवाले देवकुरु, उत्तरकुरु के जुगलिया के वालाग्र-केशों से ठूंस ठूंस कर इस प्रकार भरा जाय कि वे वालाग्र केश हवा से न उड सकें और आग से न जल सकें। उनमें से प्रत्येक वालाग्र को एक एक समय में निकालते हुए जितने काल में वह कूआ सर्वथा खाली हो जाय-उस काल परिमाण को उद्धार-पल्योपम कहते हैं। यह पल्योपम संख्यात समय परिमाण होता है।

उद्धार पल्योपम के दो भेद हैं—

व्यवहार उद्धार पल्योपम और सूक्ष्म उद्धारपल्योपम। उपरोक्त वर्णन व्यावहारिक उद्धार पल्योपम का है।

सूक्ष्म उद्धारपल्योपम-उपरोक्त वालाग्रों के असंख्यात अदृश्य खण्ड किये जाय जो कि विशुद्ध लोचनवाले छद्मस्थ

---

१ उत्सेधाङ्गुल का अर्थ और भेद इस प्रकरण के बाद दिया गया है।

पुरुष के दृष्टिगोचर होनेवाले सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य के असंख्यातवें भाग और सूक्ष्मपनक (नीलणफूलण) शरीर से असंख्यातगुणा हो। उन सूक्ष्म वालाग्र खण्डों से वह कूआ उपरोक्त रीति से ठूंस ठूंस कर भरा जाय और उन में से एक एक वालाग्र खण्ड को एक एक समय में बहार निकाला जाय। इस प्रकार निकालते निकालते जितने काल में वह कूआ सर्वथा खाली हो जाय उसे सूक्ष्म उद्धार पल्योपम कहते हैं। सूक्ष्म उद्धार पल्योपम में संख्यात वर्ष कोटि परिमाण काल होता है। यह द्वीप समुद्रों की गणना (गिनती) करने के लिए काम में आता है।

(२) अद्धापल्योपम के दो भेद हैं—व्यवहार अद्धा पल्योपम और सूक्ष्म अद्धापल्योपम। व्यवहार अद्धापल्योपम—उपरोक्त रीति से भरे हुए उपरोक्त परिमाणवाले कूप में से एक एक वालाग्र (केश) सौ सौ वर्ष में निकाला जाय। इस प्रकार निकालते निकालते जितने कालमें वह कूआ सर्वथा खाली हो जाय उस काल परिमाण को व्यवहार अद्धापल्योपम कहते हैं। इस में अनेक संख्येय वर्ष कोटि परिमाण काल होता है।

सूक्ष्म अद्धापल्योपम—यदि उपरोक्त परिमाण वाला कूआ उपरोक्त रीति से उपरोक्त सूक्ष्म वालाग्र खण्डों से भरा हो एवं उनमें से प्रत्येक वालाग्रखण्ड सौ सौ वर्ष में निकाला जाय। इस प्रकार निकालते निकालते जितने काल में वह कूआ सर्वथा खाली हो जाय उसे सूक्ष्म अद्धा पल्योपम कहते

हैं। इनमें असंख्यात वर्ष कोटि परिमाण काल होता है । यह चारों गतियों के जीवों की आयु का परिमाण जानने के लिए काम में आते है।

(३) क्षेत्र पल्योपम—इसके दो भेद हैं—व्यवहार क्षेत्र पल्योपम और सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम।

व्यवहार क्षेत्र पल्योपम—उपरोक्त परिमाण का कूआ उपरोक्त रीति से वालाग्रों से (केशों) से भरा हो । उन वालाग्रों से जो आकाश प्रदेश छुए हुए हैं उन छुए हुए आकाश प्रदेशों में से एक एक आकाश प्रदेश को एक एक समय में निकाला जाय । इस प्रकार सभी आकाश प्रदेशों को निकालने में जितना समय लगे उसे व्यवहार क्षेत्र पल्योपम कहते हैं। यह काल असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी परिमाण होता है।

सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम—उपरोक्त परिमाण वाला कुआ उपरोक्त रीति से वालाग्र के सूक्ष्म खण्डों से ठुंस ठुंस कर भरा हो। उन वालाग्रखण्डों से जो आकाश प्रदेश जो छुए हुए हैं और जो नहीं छुए हुए हैं उन सभी आकाश प्रदेशों में से एक एक आकाश प्रदेश को एक एक समय में निकाला जाय। इस प्रकार निकालते निकालते वह कुआ जितने समय में सर्वथा खाली हो उसे सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम कहते हैं। यह भी असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी परिमाण होता है। यह काल व्यवहार क्षेत्र पल्योपम से असंख्यात गुणा अधिक समझना

चाहिये। सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम दृष्टिवाद के द्रव्यों का परिमाण जानने के लिए काम में आता है।

(अनुयोग द्वार सूत्र) (प्रवचन सारोद्धार द्वार १५८)

प्र० सागरोपम किसे कहते हैं?

उ० सागरोपम के तीन भेद है-(१) उद्धार सागरोपम, (२) अद्धा सागरोपम, (३) क्षेत्र सागरोपम।

(१) उद्धार सागरोपम-इसके दो भेद हैं-व्यवहार उद्धार सागरोपम और सूक्ष्म उद्धार सागरोपम। दस कोडाकोडी व्यवहार उद्धार पल्योपम का व्यवहार उद्धार सागरोपम होता है। दस कोडाकोडी सूक्ष्म उद्धार पल्योपन का एक सूक्ष्म-उद्धार सागरोपम होता है।

अढाई सूक्ष्म उद्धार सागरोपम या पचीस कोडाकोडी सूक्ष्म उद्धार पल्योपम में जितने समय होते हैं उतने हा लोक में द्वीप और समुद्र हैं।

(२) अद्धासागरोपम-इसके भी दो भेद हैं-व्यवहार अद्धा सागरोपम और सूक्ष्म अद्धा सागरोपम।

दस कोडाकोडी व्यवहार अद्धापल्योपम का एक व्यवहार अद्धा सागरोपम होता है।

दस कोडाकोडी सूक्ष्म अद्धापल्योपम का एक सूक्ष्म अद्धा सागरोपम होता है।

जीवों की कर्मस्थिति, कायस्थिति और भवस्थिति सूक्ष्म अद्धा पल्योपम और सूक्ष्म अद्धा सागरोपम से मापी जाती है।

(३) क्षेत्र सागरोपम–इसके दो भेद हैं–व्यवहार क्षेत्र सागरोपम और सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम।

दस कोडाकोडी व्यवहार क्षेत्र पल्योपम का एक व्यवहार क्षेत्र सागरोपम होता है।

दस कोडाकोडी सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम का एक सूक्ष्मक्षेत्र सागरोपम होता है।

सूक्ष्मक्षेत्र पल्योपम और सूक्ष्मक्षेत्र सागरोपम से दृष्टिवाद के द्रव्य मापे जाते हैं। सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम से पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु वनस्पति और त्रस जीवों की गिनती की जाती है। (अनुयोगद्वार सूत्र १३८)

(प्रवचनसारोद्धार द्वार १५९)

प्र० कोडाकोडी किसे कहते हैं ?

उ० एक करोड को एक करोड से गुणा करने पर जितनी संख्या आती है उसे कोडाकोडी कहते हैं।

प्र० कल्पवृक्ष किसे कहते हैं ?

उ० अकर्मभूमि में होने वाले युगलियों के लिए जो उपभोग रूप हों अर्थात् इनकी आवश्यकताओं को पूरी करने वाले अर्थात् मनोवांच्छित पदार्थों की पूर्ति करने वाले वृक्षों को कल्पवृक्ष कहते हैं। उनके दस भेद हैं–

(१) मतङ्गा—शरीर के लिए पौष्टिक रस देने वाले।

(२) भृताङ्गा–पात्र आदि देने वाले।

(३) त्रुटिताङ्गा–बाजे (वादित्र) देने वाले।

(४) दीपाङ्गा–दीपक का काम देने वाले।

(५) ज्योतिरङ्गा–प्रकाश को ज्योति कहते हैं। सूर्य के समान प्रकाश देने वाले अग्नि को भी ज्योति कहते हैं। अग्नि का काम देने वाले कल्पवृक्षों को ज्योतिरङ्गा कहते हैं।

(६) चित्राङ्गा–विविध प्रकार के फूल देने वाले।

(७) चित्ररसा–विचित्र एवं विविध प्रकार का भोजन देने वाले।

(८) मण्यङ्गा–आभूषण देने वाले

(९) गेहाकारा–मकान के आकार परिणत परिणित हो जाने वाले अर्थात् मकान की तरह आश्रय देने वाले।

(१०) अणियणा (अनग्ना) वस्त्रादि देने वाले।

इस प्रकार के कल्पवृक्षों से युगलियों की आवश्यकताएं पूरी होती हैं। अतः ये कल्पवृक्ष कहलाते हैं।

(ठाणांग १० उ० ३)

प्र० उत्सेधाङ्गुल किसे कहते हैं ?

उ० अंगुल के तीन भेद हैं–(१) आत्माङ्गुल, (२) उत्सेधाङ्गुल, (३) प्रमाणाङ्गुल।

(१) आत्माङ्गुल–जिस काल में जो मनुष्य होते हैं उन के अपने अंगुल को आत्माङ्गुल कहते हैं। काल के भेद से मनुष्यों की अवगाहना में न्यूनाधिकता होने से इस अंगुल का परिमाण भी परिवर्तित होता रहता है। जिस समय जो मनुष्य

होते हैं उनके नगर, कानन, उद्यान, वन, तडाग (तालाब) कूप (कुआ) मकान आदि उन्हीं के अंगुल से अर्थात् आत्मा-ङ्गुल से मापे जाते हैं।

(२) उत्सेधाङ्गुल—आठ यवमध्य का एक उत्सेधाङ्गुल होता है। अथवा इस अवसर्पिणी काल के पांचवें आरे का आधा भाग अर्थात् साढे दस हजार वर्ष बीत जाने पर उस समय के मनुष्य के अंगुल को उत्सेधाङ्गुल कहते हैं। उत्से-धाङ्गुल से नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों की अवगाहना मापी जाती है।

(३) प्रमाणाङ्गुल—यह अंगुल सब में बड़ा होता है। इस लिए इसे प्रमाणाङ्गुल कहते हैं। उत्सेधाङ्गुल से प्रमा-णाङ्गुल हजार गुणा बड़ा होता है। इस अङ्गुल से रत्नप्रभा आदि नरक, भवनपतियों के भवन, कल्प (विमान), वर्षधर पर्वत, द्वीप आदि की लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई, गहराई और परिधि नापी जाती है। शाश्वत वस्तुओं को नापने के लिए चार हजार कोस का एक योजन माना है। इस का कारण यही है कि शाश्वत वस्तुओं के नापने का योजन प्रमाणाङ्गुल से लिया जाता है। प्रमाणाङ्गुल उत्सेधाङ्गुल से हजारगुणा अधिक होता है। इसलिए इस अपेक्षा से प्रमाणाङ्गुल का योजन उत्सेधाङ्गुल के योजन से हजार गुणा बड़ा होता है।

(अनुयोगद्वारसूत्र १३३)

॥ इति जीवतत्त्व समाप्त ॥

अजीवतत्त्व

प्र० अजीव किसे कहते हैं ?

उ० जो चेतना रहित हो, सुख दुःख को वेदे नहीं, पर्याप्ति, प्राण, योग, उपयोग और आठ कर्मों से रहित हो, तथा जड स्वरूप हो उसे अजीव कहते हैं।

प्र० अजीव के कितने भेद हैं ?

उ० अजीव के दो भेद हैं–रूपी अजीव और अरूपी अजीव। अरूपी अजीव के दस भेद हैं–(१) धर्मास्ति काय, (२) धर्मास्तिकाय के देश, (३) धर्मास्तिकाय के प्रदेश, (४) अधर्मास्तिकाय, (५) अधर्मास्तिकाय के देश, (६) अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, (७) आकाशास्तिकाय, (८) आकाशास्तिकाय के देश, (९) आकाशास्तिकाय के प्रदेश, (१०) काल।

रूपी अजीव के चार भेद–(१) स्कन्ध, (२) देश, (३) प्रदेश, (४) परमाणु पुद्गल। सामान्य रूप से अजीव तत्त्व के ये चौदह भेद हैं।

प्र० रूपी किसे कहते हैं ?

उ० जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श पाये जाते हों और जो मूर्त हो उसे रूपी द्रव्य कहते हैं।

रूपी द्रव्य के दो भेद हैं–अष्ट स्पर्शी, और चतुःस्पर्शी।

जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान के साथ आठ स्पर्श (१) खरदरा-कर्कश, कठोर, (२) मुंगला-मृदु, कोमल, (३) हलका-लघु, (४) भारी-गुरु, (५) स्निग्ध-चिकना, (६) रूक्ष-रूखा, (७) शीत-ठण्डा, (८) उष्ण-गर्म) पाये जाते हों उसे अष्टस्पर्शी या अठफरसी रूपी कहते हैं। जिसमें वर्ण, गन्ध, रस के साथ शीत, उष्ण, स्निग्ध, और रूक्ष ये चार स्पर्श पाये जाते हों उसे चतुःस्पर्शी या चौफरसी रूपी कहते हैं।

प्र० अरूपी किसे कहते हैं?

उ० जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श न पाये जाते हों तथा जो अमूर्त हो उसे अरूपी कहते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल ये अरूपी हैं।

प्र० अस्तिकाय किसे कहते हैं?

उ० 'अस्ति' शब्द का अर्थ प्रदेश है और 'काय' शब्द का अर्थ 'राशि' है। अर्थात् प्रदेशों की राशि वाले द्रव्यों को अस्तिकाय कहते हैं।

अजीव तत्त्व में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ये चार अस्तिकाय हैं। काल अस्तिकाय नहीं है। जीवतत्त्व में जीवास्तिकाय अस्तिकाय है।

प्र० काल किसे कहते हैं?

उ० तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है कि 'वर्तना लक्षणः

कालः ' अर्थात् जो वर्वे उसे काल कहते हैं, अर्थात् जो जीव और पुद्गलों की पर्यायों को बदलने में निमित्त हो उसे काल कहते हैं।

प्र० 'काल' को अस्तिकाय क्यों नहीं माना गया है?

उ० काल के तीन भेद हैं—भूतकाल, भविष्यत् काल और वर्तमान काल। इनमें से भूतकाल तो नष्ट हो चुका और भविष्यत् काल आने वाला है, अभी आया नहीं है। इसलिए ये दोनों वर्तमान रूप में नहीं है। अतः सिर्फ ' वर्तमान ' एक ही समय है। प्रदेशों के समूह का अस्तिकाय कहते हैं। काल कभी समूह रूप नहीं बनता क्यों कि चालु समय रहते अगले समय आते ही नहीं इसलिए अस्तिकाय नहीं कहा गया है।

प्र० स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु किसे कहते हैं?

उ० अल्पज्ञ एवं छद्मस्थ जीवों की दृष्टि से अगोचर, अति सूक्ष्म पदार्थ को अणु कहते हैं। दो अणु मिलकर द्वय अणुक बनता है और तीन अणु मिल कर त्रय अणुक बनता है। इस तरह अनन्त अणु समुदाय को एक स्कन्ध कहते हैं। स्कन्ध के बुद्धि कल्पित भाग को देश कहते हैं। स्कन्ध या देश में मिले हुए अति सूक्ष्म भाग, जिसके फिर विभाग न हो सके उसको प्रदेश कहते हैं। वही प्रदेश भाग जब स्कन्धसे अलग हो जाता है तब उसको 'परमाणु' कहते हैं।

प्र० धर्मास्तिकाय किसे कहते हैं?

उ० 'चलण सहावो धम्मो' अर्थात् गति परिणाम वाले जीव और पुद्गलों की गति में जो सहायक हो उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं। जीव और पुद्गल गतिशाली (गमनशील) होने पर भी वे स्वतन्त्र गति क्रिया नहीं कर सकते हैं किन्तु उनको किसी दूसरे द्रव्य की सहायता की आवश्यकता रहती है। जैसे की मछली में तैरने की शक्ति है किन्तु वह जल के बिना तैर नहीं सकती। अतः जैसे पानी मछली की गति में सहायक होता है, उसी तरह धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलों के गति करने में सहायक होता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा से धर्मास्तिकाय के पांच भेद हैं–

(१) द्रव्य की अपेक्षा–धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है।

(२) क्षेत्र की अपेक्षा–धर्मास्तिकाय लोकपरिमाण अर्थात् सर्व लोक व्यापी है यानी लोकाकाश की तरह असंख्यात प्रदेशी है।

(३) काल की अपेक्षा–धर्मास्तिकाय अनादि अनन्त (आदि अन्त रहित) है, त्रिकाल स्थायी है अर्थात् यह भूतकाल में रहा था, वर्तमान काल में विद्यमान है और भविष्यत् काल में भी रहेगा। यह ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, अक्षय, अव्यय तथा अवस्थित है।

भाव की अपेक्षा–धर्मास्तिकाय वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श रहित है। अरूपी है तथा चेतना रहित अर्थात् जड़ है।

गुण की अपेक्षा—धर्मास्तिकाय गति—गुण वाला है अर्थात् गति परिणाम वाले जीव और पुद्गलों की गति में सहकारी (सहायक) होना इसका गुण है।

प्र० अधर्मास्तिकाय किसे कहते हैं?

उ० 'थिरसहावो अहम्मो' अर्थात् जो स्थिर परिणाम वाले जीव और पुद्गलों को स्थिति में सहायक हो उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं जैसे—विश्राम चाहने वाले थके हुए पथिक के ठहरने में छायादार वृक्ष सहायक होता है।

अधर्मास्तिकाय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा पांच प्रकार का है। जिन में से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा धर्मास्तिकाय जैसा ही है। गुण की अपेक्षा अधर्मास्तिकाय स्थिति—गुण वाला है।

प्र० आकाशास्तिकाय किसे कहते हैं?

उ० 'अवगाहो आगासं' अर्थात् जीव और पुद्गलों को रहने के लिए जो आकाश देवे वह आकाशास्तिकाय है। इसके भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा पांच भेद हैं। द्रव्य, काल और भाव की अपेक्षा आकाशास्तिकाय धर्मास्तिकाय सरीखा ही है। क्षेत्र की अपेक्षा आकाशास्तिकाय लोकालोक व्यापी है और अनन्त प्रदेशी है। लोकाकाश धर्मास्तिकाय की तरह असंख्यात प्रदेशी है। गुण की अपेक्षा आकाशास्तिकाय अवगाहना गुण वाला है। अर्थात् जीव और पुद्गलों को अवकाश देना इसका गुण है।

प्र० पुद्गलास्तिकाय किसे कहते हैं ?

उ० जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हों और जो इन्द्रियों से ग्राह्य हो तथा विनाश धर्म वाला हो, वह पुद्गलास्तिकाय है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय पांच प्रकार का है। द्रव्य की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय अनन्त द्रव्य रूप है। क्षेत्र की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय लोक परिमाण है और अनन्त प्रदेशी है। काल की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय आदि अन्त रहित है अर्थात् ध्रुव, शाश्वत और नित्य है। भाव की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श सहित है। यह रूपी और जड़ है। गुण की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय ग्रहण गुण वाला है अर्थात् औदारिक शरीर आदि रूप से ग्रहण किया जाना या इन्द्रियों से ग्रहण होना अर्थात् इन्द्रियों का विषय होना या परस्पर एक दूसरे से मिल जाना पुद्गलास्तिकाय का गुण है।

अजीव के सामान्य रूप से उपर्युक्त चौदह भेद हुए। विशेष रूप से अजीव तत्त्व के ५६० भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं।

अजीव के दो भेद—रूपी और अरूपी। रूपी अजीव के ५३० भेद हैं।

परिमण्डल, वट्ट, (वृत्त) त्र्यस्र, (त्रिकोण) चतुरस्र, (चतुष्कोण) और आयत इन पांच संस्थानों के पांच वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और आठ स्पर्श इन बीस की अपेक्षा प्रत्येक के

२०–२० भेद हो जाते हैं। इस प्रकार के संस्थान के १०० भेद (५×२०=१००) होते हैं।

काला, नीला, लाल, पीला, और सफेद इन पांच वर्णों के १०० भेद होते हैं। काला, नीला आदि प्रत्येक वर्ण में ५ रस, २ गन्ध, ८ स्पर्श और ५ संस्थान ये बीस बीस बोल पाये जाते हैं। इस प्रकार पांच वर्णों के (५×२०=१००) सौ भेद होते हैं।

सुरभि गन्ध (सुगन्ध) और दुरभिगन्ध (दुर्गन्ध) इन दो गन्धों के ४६ भेद होते हैं। प्रत्येक गन्ध में ५ वर्ण, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थान ये २३–२३ बोल पाये जाते हैं। इस प्रकार दो गन्धों के ४६ भेद होते हैं।

तिक्त (तीखा), कटु (कड़ुआ), कषाय (कषैला), खट्टा और मीठा इन पांच रसों में प्रत्येक में ५ वर्ण, २ गन्ध, ८ स्पर्श और ५ संस्थान ये बीस बीस बोल पाये जाते हैं। इस प्रकार पांच रसों के (५×२०=१००) सौ भेद होते हैं।

कर्कश (कठोर), मृदु (कोमल), हलका, भारी, शीत, उष्ण स्निग्ध (चिकना) और रूक्ष (रूखा) इन आठ स्पर्शों के १८४ भेद होते हैं। प्रत्येक स्पर्श में ५ वर्ण, ५ रस, २ गन्ध, ६ स्पर्श और ५ संस्थान ये २३–२३ बोल पाये जाते हैं। इस प्रकार आठ स्पर्शों के (८×२३=१८४) एक सौ चौरासी भेद होते हैं।

इस प्रकार संस्थान के १००, वर्ण के १०० गन्ध के ४६, रस के १०० और स्पर्श के १८४। ये सब मिलाकर रूपी अजीव के ५३० भेद होते हैं।

अरूपी अजीव के ३० भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं-

धर्मास्तिकाय के तीन भेद-स्कन्ध, देश और प्रदेश। अधर्मास्तिकाय के तीन भेद-स्कन्ध, देश और प्रदेश। आकाशास्तिकाय के तीन भेद-स्कन्ध, देश और प्रदेश। ये ९ और एक काल ये दस भेद होते हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल इन चारों को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण इन पांच की अपेक्षा पहचाना जाता है इसलिए इन प्रत्येक के पांच पांच भेद हो जाते हैं। इस प्रकार इन चारों के बीस भेद होते हैं। उपरोक्त १० और ये २०, कुल मिलाकर अरूपी अजीव के ३० भेद होते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण इन पांच का विवेचन पहले दिया जा चुका है।

रूपी अजीव के ५३० और अरूपी अजीव के ३० ये कुल मिलाकर अजीव तत्त्व के ५६० भेद होते हैं।

☆

पुण्यतत्त्व

प्र० पुण्य किसे कहते हैं?

उ० जो आत्मा को पवित्र करे तथा जिसकी प्रकृति शुभ, जो बांधते हुए यानी उपार्जन करते हुए कठिन, भोगते हुए सुखकारी, दुःखपूर्वक बांधा जावे, सुखपूर्वक भोगा जावे, शुभयोग से बंधे, शुभ उज्जवल पुद्गलों का बन्ध पड़े, जिसका फल मीठा हो उसे पुण्य कहते हैं। पुण्य धर्म का सहायक तथा पथ्यरूप होता है।

प्र० पुण्य के कितने भेद हैं?

उ० सामान्यरूप से पुण्य के दो भेद हैं। द्रव्यपुण्य और भावपुण्य। अथवा व्यवहार पुण्य और निश्चयपुण्य। द्रव्यपुण्य और व्यवहारपुण्य दोनों का स्वरूप एक ही है। तथा भावपुण्य और निश्चयपुण्य का स्वरूप एक ही है।

आत्मा के शुभ परिणामों की धारा को निश्चय पुण्य कहते हैं। जो बाहर वर्तता हुआ दिखाई दे उसे व्यवहार पुण्य कहते हैं। निश्चयपुण्य तो एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी जीवों में अनाभोग रूप से है। व्यवहार पुण्य यह है कि जैसे एकेन्द्रिय जीव अव्यवहार राशि में से व्यवहार राशि में आवे, फिर बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय होवे, फिर पञ्चेन्द्रिय में नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देवगति में जावे। शुभ रूप,

रूप, स्पर्श आदि की प्राप्ति यह सब व्यवहार (द्रव्य) पुण्य है। आत्मा में दया, अनुकम्पा के परिणाम, कोमल परिणाम, सरल (कपट रहित) परिणाम यह सब निश्चय (भाव) पुण्य है। भावपुण्य से द्रव्यपुण्य का बन्ध होता है। भावपुण्य द्रव्य पुण्य का कारण है। जैसे भाव होते हैं वैसा ही द्रव्यपुण्य होता है। भाव (निश्चय) पुण्य आत्मा का परिणाम है और द्रव्य (व्यवहार) पुण्य पुद्गल परिणाम है।

प्र० पुण्य कितने प्रकार से बांधा जाता है?

उ० पुण्य नौ प्रकार से बांधा जाता है। यथा—

(१) अन्नपुण्य—अन्न देने से पुण्य होता है।

(२) पानपुण्य—पानी देने से पुण्य होता है।

(३) लयनपुण्य—मकान, स्थान आदि देने से पुण्य होता है।

(४) शयनपुण्य—शय्या, पाट, पाटला, बाजोट आदि देने से पुण्य होता है।

(५) वस्त्रपुण्य—वस्त्र—कपड़ा देने से पुण्य होता है।

(६) मनपुण्य—मन को शुभ रखने से अर्थात् दानरूप, शीलरूप, तपरूप, भावरूप और दयारूप आदि शुभ मन रखने से पुण्य होता है।

(७) वचनपुण्य—मुख से शुभ वचन बोलने से तथा अच्छा वचन निकालने से पुण्य होता है।

(८) कायापुण्य—काया द्वारा दया पालने से काया द्वारा सेवा, चाकरी, विनय, वैयावच्च करने से पुण्य होता है।

(९) नमस्कारपुण्य—अपने से अधिक गुणवान् को नमस्कार करने से पुण्य होता है।

यह नौ प्रकार का पुण्य सुपात्र के विषय में महान् पुण्य उपार्जन करता है और इससे मन्दमन्दतर पात्रों में परिणामों के अनुसार मन्द मन्दतर पुण्य होता है।

सभी संसारी जीव अनादि काल से कर्मों से बंधे हुए हैं। उन कर्मों का जब विपाक उदय होता है तब उनको भोगने के लिये उन उन स्थानों में जन्म ले कर उनको भोगना पड़ता है। उस भोग की अवस्था में भी कभी शुभ, कभी अशुभ विचार होते । उन विचारों के अनुसार फिर नये कर्मों के परमाणु आकर उस जीव के साथ चिपक जाते हैं क्योंकि आठों कर्मों के अनन्त परमाणु लोकाकाश में भरे हुए हैं। जीव के जब जैसे शुभ या अशुभ अध्यवसाय (विचार) होते हैं वैसे ही परमाणु वहां खिंच आते हैं और जीव के प्रदेशों के साथ चिपक जाते हैं। उन कर्मों में घाती और अघाती ऐसे दो भेद हैं। जो कर्म अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र और अनन्त वीर्य का घात करते हैं वे घाती कर्म हैं। उनसे विपरीत अघाती कर्म हैं। आठ कर्मों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घाती कर्म हैं। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघाती कर्म

हैं। इनमें जितनी अशुभ प्रकृतियां हैं वे पाप तत्त्व की हैं और जितनी शुभ प्रकृतियां हैं वे पुण्य तत्त्व की हैं। पुण्य तत्त्व की बयालीस प्रकृतियां हैं अर्थात् पुण्य बयालीस प्रकार से भोगा जाता है। वे बयालीस प्रकृतियां ये हैं—

सा उच्चगोय मणुदुग, सुरदुग पंचिंदिय जाइपण देहा।
आइतितणु णुवंगा, आइम संघयण संठाणा॥
वण्णचउक्कागुरुलहु परघाउस्सास आउज्जोयं।
सुभखगई निमिण तस दस, सुरणरतिरि आउतित्थयरं॥

अर्थ—सातावेदनीय, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, देवगति, देवानुपूर्वी, पञ्चेन्द्रिय जाति, पांच शरीर अर्थात् औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण ये पांच शरीर, औदारिक शरीर अङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय शरीर अङ्गोपाङ्ग, आहारक शरीर अङ्गोपाङ्ग, पहला संहनन अर्थात् वज्रऋषभनाराच संहनन, पहला संस्थान अर्थात् समचतुरस्र संस्थान, वर्ण चतुष्क अर्थात् शुभ वर्ण, शुभ गन्ध, शुभ रस, शुभ स्पर्श, अगुरुलघु, पराघात, श्वासोच्छ्वास, आतप, उद्योत, शुभ विहायोगति, निर्माण, त्रसदशक, देवायु, मनुष्यायु, तिर्यञ्चायु और तीर्थङ्कर नाम कर्म।

ये पुण्य की बयालीस प्रकृतियां हैं अर्थात् पुण्य बयालीस प्रकार से भोगा जाता है। अब इन प्रकृतियों का अर्थ बतलाया जाता है।

(१) सातावेदनीय–जिस कर्म के उदय से जीव सुख का अनुभव करता है उसको साता वेदनीय कहते हैं।

(२) उच्चगोत्र–जिस कर्म के उदय से जीव उच्च कुल में जन्म पाता है उसे उच्च गोत्र कहते हैं।

(३) मनुष्यगति–जिस कर्म के उदय से जीव को मनुष्य की गति मिले उसे मनुष्यगति कहते हैं।

(४) मनुष्यानुपूर्वी–जिस कर्म के उदय से मनुष्य की आनुपूर्वी मिले उसे मनुष्यानुपूर्वी कहते हैं।

जैसे—इस भव में जो जीव आगे के लिये मनुष्यगति में जन्म लेने का कर्म बांध चुका है परन्तु मरणकाल में वह इस शरीर को छोड कर विग्रहगति द्वारा दूसरी गति में जाने लगता है तो मनुष्यानुपूर्वी कर्म जबर्दस्ती से खोंच कर मनुष्य गति में ले जाता है उसको मनुष्यानुपूर्वी कहते हैं। इसी तरह देवानुपूर्वी आदि का स्वरूप समझना चाहिये। आनुपूर्वी नाम कर्म बैल की नाथ के समान है। जसे इधर उधर जाते हुए बैल को नाथ (नाक में डाली हुई टोरी) के द्वारा खींच कर यथास्थान ले जाता है उसी प्रकार विग्रहगति द्वारा इधर उधर जाते हुए जीव को जबर्दस्ती खींच कर आनुपूर्वी नाम कर्म उसी गति में ले जाता है जिस गति की आयु उसने बांध रखी है।

(५) देवगति–जिस से जीव को देवता का भव मिले उसे देवगति कहते हैं।

(६) देवानुपूर्वी—जिस कर्म के उदय से जीव को देवता की आनुपूर्वी प्राप्त हो उसे देवानुपूर्वी कहते हैं।

(७) पञ्चेन्द्रिय जाति—जिस कर्म के उदय से जीव को स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय ये पांचों इन्द्रियां प्राप्त हों उसे पञ्चेन्द्रिय जाति कहते हैं।

(८) औदारिक शरीर—उदार अर्थात् प्रधान अथवा स्थूल पुद्गलों से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है। तीर्थङ्कर भगवान् का शरीर सर्व श्रेष्ठ एवं सर्व प्रधान पुद्गलों से बनता है और सर्व साधारण का शरीर स्थूल असार पुद्गलों से बना हुआ होता है।

अथवा—

उदार अर्थात् दूसरे शरीरों की अपेक्षा विशाल अर्थात् बड़े परिणामवाला होने से यह औदारिक शरीर कहा जाता है। वनस्पतिकाय की अपेक्षा औदारिक शरीर की अवस्थित अवगाहना एक हजार योजन झाझेरी (कुछ अधिक) है। अन्य सभी शरीरों की अवस्थित अवगाहना इस से कम है। यद्यपि वैक्रिय शरीर की उत्तरवैक्रिय की अपेक्षा अनवस्थित अवगाहना एक लाख योजन की है परन्तु भवधारणीय वैक्रिय शरीर की अवस्थित अवगाहना तो पांचसौ धनुष से अधिक नहीं है।

अथवा

अन्य शरीरों की अपेक्षा अल्प प्रदेशवाला परिमाण में बड़ा होने से यह शरीर औदारिक शरीर कहलाता है।

अथवा

हाड मांस लोही आदि से बना हुआ शरीर औदारिक शरीर कहलाता है। मनुष्य, पशु, पक्षी, पृथ्वीकाय आदि का शरीर औदारिक है।

(९) वैक्रिय शरीर–जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर मिले उसे वैक्रिय शरीर नाम कर्म कहते हैं। जिस शरीर से विविध अर्थात् नानारूप और आकार बनाने की क्रियायें अथवा विशिष्ट क्रियायें होती हैं वह वैक्रिय शरीर कहलाता है। जैसे एकरूप हो कर अनेक रूप धारण करना, अनेकरूप हो कर एकरूप धारण करना, छोटे शरीर से बड़ा शरीर बनाना और बड़े से छोटा बनाना, पृथ्वी और आकाश में चलने योग्य शरीर धारण करना, दृश्य, अदृश्य रूप बनाना आदि। यह शरीर हाड, मांस, रक्त, मज्जा आदि सात धातुओं से रहित होता है। यह शरीर सभी देवता और नारकी जीवों को निसर्गतः (स्वाभाविक रूप से ही) मिलता है। कभी किसी लब्धिधारी मनुष्य और तिर्यञ्च को भी लब्धि सामर्थ्य से मिल जाता है। इस लिये वैक्रिय शरीर दो प्रकार का है–औपपातिक वैक्रिय शरीर और लब्धि प्रत्यय वैक्रिय शरीर, जो वैक्रिय शरीर जन्म से ही मिलता है वह औपपातिक वैक्रिय शरीर है। सभी देवता और नारकी जीव जन्म से ही वैक्रिय शरीरधारी होते हैं। जो वैक्रिय शरीर तप आदि द्वारा प्राप्त

लब्धि विशेष से मिलता है वह लब्धि प्रत्यय वैक्रिय शरीर है। तिर्यञ्च और मनुष्य में लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर होता है।

(१७) आहारक शरीर—जिस कर्म से आहारक शरीर की प्राप्ति हो उसे आहारक नाम कर्म कहते हैं।

प्राणी दया के लिए, दूसरे क्षेत्र में रहे हुए तीर्थङ्कर भगवान का ऋद्धि ऐश्वर्य देखने के लिये तथा अपना संशय निवारणार्थ उनसे प्रश्न पूछने के लिए चौदह पूर्वधारी मुनिराज अपनी लब्धि से अति विशुद्ध स्फटिक के सदृश एक हाथ का पुतला (चर्मचक्षु से अदृश्य) अपने शरीर में से निकालते हैं, उस पुतले को तीर्थङ्कर भगवान् या केवली भगवान् के पास भेजते हैं। यदि तीर्थङ्कर भगवान या केवली भगवान् वहाँ से विहार कर गये हों तो उस एक हाथ के पुतले में से मुण्ड हाथ का पुतला निकलता है। वह तीर्थङ्कर भगवान् के पास जा कर अपना कार्य कर के वह मुण्ड हाथ का पुतला एक हाथ के पुतले में प्रवेश करता है। फिर वह एक हाथ का पुतला आ कर उन मुनिराज के शरीर में प्रवेश करता है। उसको आहारक शरीर कहते हैं। ये मुनिराज यदि इस लब्धि फोड़ने की आलोचना कर लेवें तो आराधक होते हैं, यदि आलोचना न करें तो विराधक होते हैं।

(१८) तैजस शरीर—जिस कर्म से तैजस शरीर की प्राप्ति हो उसे तैजस नाम कर्म कहते हैं। किये हुए आहार को पचा कर रस रक्त बनानेवाला और कर्मों के पुद्गलों को ग्रहण

लब्धि विशेष से मिलता है वह लब्धि प्रत्यय वैक्रिय शरीर है। तिर्यञ्च और मनुष्य में लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर होता है।

(१०) आहारक शरीर—जिस कर्म से आहारक शरीर की प्राप्ति हो उसे आहारक नामकर्म कहते हैं।

प्राणी दया के लिए, दूसरे द्वीप में रहे हुए तीर्थङ्कर भगवान की ऋद्धि ऐश्वर्य देखने के लिये तथा अपना संशय निवारणार्थ उनसे प्रश्न पूछने के लिए, चौदह पूर्वधारी मुनिराज अपनी लब्धि से अति विशुद्ध स्फटिक के सदृश एक हाथ का पुतला (चर्मचक्षु से अदृश्य) अपने शरीर में से निकालते हैं, उस पुतले को तीर्थंकर भगवान या केवली भगवान के पास भेजते हैं। यदि तीर्थङ्कर भगवान या केवली भगवान वहां से विहार कर गये हों तो उस एक हाथ के पुतले में से मुण्ड हाथ का पुतला निकलता है। वह तीर्थंकर भगवान के पास जा कर अपना कार्य कर के वह मुण्ड हाथ का पुतला एक हाथ के पुतले में प्रवेश करता है। फिर वह एक हाथ का पुतला जा कर उन मुनिराज के शरीर में प्रवेश करता है। उसको आहारक शरीर कहते हैं। वे मुनिराज यदि इस लब्धि फोड़ने की आलोचना कर लेवें तो आराधक होते हैं, यदि आलोचना न करें तो विराधक होते हैं।

(११) तैजस शरीर—जिस कर्म से तैजस शरीर की प्राप्ति हो उसे तैजस् नाम कर्म कहते हैं। किये हुए आहार को पचा कर रस रक्त बनानेवाला और कर्मों के पुद्गलों को ग्रहण

अथवा

हाड मांस लोही आदि से बना हुआ शरीर औदारिक शरीर कहलाता है। मनुष्य, पशु, पक्षी, पृथ्वीकाय आदि का शरीर औदारिक है।

(९) वैक्रिय शरीर–जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर मिले उसे वैक्रिय शरीर नाम कर्म कहते हैं। जिस शरीर से विविध अर्थात् नानारूप और आकार बनाने की क्रियायें अथवा विशिष्ट क्रियायें होती हैं वह वैक्रिय शरीर कहलाता है। जैसे एकरूप हो कर अनेक रूप धारण करना, अनेकरूप हो कर एकरूप धारण करना, छोटे शरीर से बड़ा शरीर बनाना और बड़े से छोटा बनाना, पृथ्वी और आकाश में चलने योग्य शरीर धारण करना, दृश्य, अदृश्य रूप बनाना आदि। यह शरीर हाड, मांस, रक्त, मज्जा आदि सात धातुओं से रहित होता है। यह शरीर सभी देवता और नारकी जीवों को निसर्गतः (स्वाभाविक रूप से ही) मिलता है। कभी किसी लब्धिधारी मनुष्य और तिर्यञ्च को भी लब्धि सामर्थ्य से मिल जाता है। इस लिये वैक्रिय शरीर दो प्रकार का है– औपपातिक वैक्रिय शरीर और लब्धि प्रत्यय वैक्रिय शरीर, जो वैक्रिय शरीर जन्म से ही मिलता है वह औपपातिक वैक्रिय शरीर है। सभी देवता और नारकी जीव जन्म से ही वैक्रिय शरीरधारी होते हैं। जो वैक्रिय शरीर तप आदि द्वारा प्राप्त

लब्धि विशेष से मिलता है वह लब्धि प्रत्यय वैक्रिय शरीर है। तिर्यञ्च और मनुष्य में लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर होता है।

(१०) आहारक शरीर—जिस कर्म से आहारक शरीर की प्राप्ति हो उसे आहारक नामकर्म कहते हैं।

प्राणी दया के लिए, दूसरे द्वीप में रहे हुए तीर्थङ्कर भगवान् की ऋद्धि ऐश्वर्य देखने के लिये तथा अपना संशय निवारणार्थ उनसे प्रश्न पूछने के लिए चौदह पूर्वधारी मुनिराज अपनी लब्धि से अति विशुद्ध स्फटिक के सदृश एक हाथ का पुतला (चर्मचक्षु से अदृश्य) अपने शरीर में से निकालते हैं, उस पुतले को तीर्थंकर भगवान् या केवली भगवान् के पास भेजते है। यदि तीर्थङ्कर भगवान् या केवली भगवान् वहांसे विहार कर गये हों तो उस एक हाथ के पुतले में से मुण्ड हाथ का पुतला निकलता है। वह तीर्थंकर भगवान् के पास जा कर अपना कार्य कर के वह मुण्ड हाथ का पुतला एक हाथ के पुतले में प्रवेश करता है। फिर वह एक हाथ का पुतला जा कर उन मुनिराज के शरीर में प्रवेश करता है। उसको आहारक शरीर कहते है। वे मुनिराज यदि उस लब्धि फोड़ने की आलोचना कर लेवें तो आराधक होते हैं, यदि आलोचना न करे तो विराधक होते हैं।

(११) तैजस शरीर—जिस कर्म से तैजस शरीर की प्राप्ति हो उसे तैजस् नाम कर्म कहते हैं। किये हुए आहार को पचा कर रस रक्त बनानेवाला और कर्मों के पुद्गलों को ग्रहण

अथवा

हाड मांस लोही आदि से बना हुआ शरीर औदारिक शरीर कहलाता है। मनुष्य, पशु, पक्षी, पृथ्वीकाय आदि का शरीर औदारिक है।

(९) वैक्रिय शरीर-जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर मिले उसे वैक्रिय शरीर नाम कर्म कहते हैं। जिस शरीर से विविध अर्थात् नानारूप और आकार बनाने की क्रियायें अथवा विशिष्ट क्रियायें होती हैं वह वैक्रिय शरीर कहलाता है। जैसे एकरूप हो कर अनेक रूप धारण करना, अनेकरूप हो कर एकरूप धारण करना, छोटे शरीर से बड़ा शरीर बनाना और बड़े से छोटा बनाना, पृथ्वी और आकाश में चलने योग्य शरीर धारण करना, दृश्य, अदृश्य रूप बनाना आदि। यह शरीर हाड, मांस, रक्त, मज्जा आदि सात धातुओं से रहित होता है। यह शरीर सभी देवता और नारकी जीवों को निसर्गतः (स्वाभाविक रूप से ही) मिलता है। कभी किसी लब्धिधारी मनुष्य और तिर्यञ्च को भी लब्धि सामर्थ्य से मिल जाता है। इस लिये वैक्रिय शरीर दो प्रकार का है- औपपातिक वैक्रिय शरीर और लब्धि प्रत्यय वैक्रिय शरीर, जो वैक्रिय शरीर जन्म से ही मिलता है वह औपपातिक वैक्रिय शरीर है। सभी देवता और नारकी जीव जन्म से ही वैक्रिय शरीरधारी होते हैं। जो वैक्रिय शरीर तप आदि द्वारा प्राप्त

अथवा

हाड मांस लोही आदि से बना हुआ शरीर औदारिक शरीर कहलाता है। मनुष्य, पशु, पक्षी, पृथ्वीकाय आदि का शरीर औदारिक है।

(९) वैक्रिय शरीर-जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर मिले उसे वैक्रिय शरीर नाम कर्म कहते हैं। जिस शरीर से विविध अर्थात् नानारूप और आकार बनाने की क्रियायें अथवा विशिष्ट क्रियायें होती हैं वह वैक्रिय शरीर कहलाता है। जैसे एकरूप हो कर अनेक रूप धारण करना, अनेकरूप हो कर एकरूप धारण करना, छोटे शरीर से बड़ा शरीर बनाना और बड़े से छोटा बनाना, पृथ्वी और आकाश में चलने योग्य शरीर धारण करना, दृश्य, अदृश्य रूप बनाना आदि। यह शरीर हाड, मांस, रक्त, मज्जा आदि सात धातुओं से रहित होता है। यह शरीर सभी देवता और नारकी जीवों को निसर्गतः (स्वाभाविक रूप से ही) मिलता है। कभी किसी लब्धिधारी मनुष्य और तिर्यञ्च को भी लब्धि सामर्थ्य से मिल जाता है। इस लिये वैक्रिय शरीर दो प्रकार का है- औपपातिक वैक्रिय शरीर और लब्धि प्रत्यय वैक्रिय शरीर, जो वैक्रिय शरीर जन्म से ही मिलता है वह औपपातिक वैक्रिय शरीर है। सभी देवता और नारकी जीव जन्म से ही वैक्रिय शरीरधारी होते हैं। जो वैक्रिय शरीर तप आदि द्वारा प्राप्त

लब्धि विशेष से मिलता है वह लब्धि प्रत्यय वैक्रिय शरीर है।
तिर्यञ्च और मनुष्य में लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर होता है।

(१०) आहारक शरीर—जिस कर्म से आहारक शरीर की प्राप्ति हो उसे आहारक नामकर्म कहते हैं।

प्राणी दया के लिए, दूसरे द्वीप में रहे हुए तीर्थङ्कर भगवान् की ऋद्धि ऐश्वर्य देखने के लिये तथा अपना संशय निवारणार्थ उनसे प्रश्न पूछने के लिए चौदह पूर्वधारी मुनिराज अपनी लब्धि से अति विशुद्ध स्फटिक के सदृश एक हाथ का पुतला (चर्मचक्षु से अदृश्य) अपने शरीर में से निकालते हैं, उस पुतले को तीर्थंकर भगवान् या केवली भगवान् के पास भेजते हैं। यदि तीर्थङ्कर भगवान् या केवली भगवान् वहांसे विहार कर गये हों तो उस एक हाथ के पुतले में से मुण्ड हाथ का पुतला निकलता है। वह तीर्थंकर भगवान् के पास जा कर अपना कार्य कर के वह मुण्ड हाथ का पुतला एक हाथ के पुतले में प्रवेश करता है। फिर वह एक हाथ का पुतला जा कर उन मुनिराज के शरीर में प्रवेश करता है। उसको आहारक शरीर कहते हैं। वे मुनिराज यदि उस लब्धि फोड़ने की आलोचना कर लेवें तो आराधक होते हैं, यदि आलोचना न करे तो विराधक होते हैं।

(११) तैजस शरीर—जिस कर्म से तैजस शरीर की प्राप्ति हो उसे तैजस् नाम कर्म कहते हैं। किये हुए आहार को पचा कर रस रक्त बनानेवाला और कर्मों के पुद्गलों को ग्रहण

करनेवाला तथा तपोबल से तेजोलेश्या निकालनेवाला शरीर तैजस शरीर कहलाता है।

(१२) कार्मण शरीर—कर्मों से बना हुआ शरीर कार्मण कहलाता है अथवा जीव के प्रदेशों के साथ लगे हुए आठ प्रकारके कर्म पुद्गलों को कार्मण शरीर कहते हैं। जिस तरह बाग का माली प्रत्येक क्यारी में पानी पहुंचाता है, उसी तरह जो प्रत्येक शरीर के अवयव में रसादिकों का परिणमन करता है तथा कर्मों का रस परिणमन कराता है उसको कार्मण शरीर कहते हैं। यह शरीर ही सब शरीरों का बीज (मूल कारण) है।

तैजसशरीर और कार्मण शरीर ये दोनों शरीर अनादि काल से जीव के साथ लगे हुए हैं। मोक्ष प्राप्त किये बिना ये जीव से अलग नहीं होते। जब जीव मरणस्थान को छोड़ कर उत्पत्ति स्थान को जाता है तब ये दोनों शरीर जीव के साथ रहते हैं।

(१३-१४-१५) अङ्ग, उपाङ्ग और अङ्गोपाङ्ग जिन कर्मों से मिलें उसको अङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं। जानु (घुटने), भुजा, मस्तक, पीठ आदि अङ्ग हैं। अङ्गुली आदि उपाङ्ग हैं और अंगुलियों की पर्व रेखा आदि अङ्गोपाङ्ग हैं। ये अङ्गोपाङ्ग औदारिक शरीर, वैक्रियशरीर और आहारक शरीर इन्हीं तीन शरीरों के होते हैं। तैजस और कार्मण के नहीं होते।

(१६) प्रथम संहनन-वज्रऋषभ नाराच संहनन-यहां वज्र का अर्थ कील है, ऋषभ का अर्थ वेष्टनपट्ट (पट्टी) है और नाराच का अर्थ दोनों तरफ से मर्कट बन्ध है। जिस संहनन में दोनों ओर से मर्कट बन्ध द्वारा जुड़ी हुई दो हड्डियों पर तीसरी पट्टी की आकृति वाली हड्डी का चारों तरफ से वेष्टन हो और इन तीनों हड्डियों को भेदने वाली वज्र नामक हड्डी की कील हो उसे वज्रऋषभ नाराच संहनन कहते हैं। मोक्ष जाने वाले जीवों के यही संहनन होता है।

(१७) समचतुरस्र संस्थान-सम का अर्थ है समान, चतुः का अर्थ है चार और अस्र का अर्थ है कोण। पालथी मार कर बैठने पर जिस शरीर के चारों कोण समान हों अर्थात् आसन और कपाल का अन्तर दोनों जानुओं (घुटनों) का अन्तर बांए कन्धे और दाहिने जानु (घुटने) का अन्तर तथा दाहिने कन्धे और बांए जानु (घुटने) का अन्तर समान हो उसे समचतुरस्र संस्थान कहते हैं। छहों संस्थानों में यह संस्थान सर्व श्रेष्ठ है। तीर्थङ्कर भगवान् और देवों के यही संस्थान होता है।

(१८) शुभ वर्ण-जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में हंस आदि की तरह शुक्ल (सफेद) आदि शुभ वर्ण हो वह शुभ वर्ण नाम कर्म कहलाता है। सफेद, लाल, पीला, नीला और काला ये पांच वर्ण (रंग) माने गये हैं। इन्हीं पांचों के संयोग (मिश्रण) से दूसरे रंग तैयार होते हैं। इनमें से सफेद,

लाल और पीला ये तीन वर्ण शुभ है तथा नीला और काला ये दो वर्ण अशुभ हैं।

(१९) सुरभिगन्ध (शुभगन्ध, सुगन्ध) जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में कमल के फूल, और गुलाब के फूल आदि की तरह शुभ गन्ध हो उसे सुरभिगन्ध नाम कर्म कहते हैं।

गन्ध दो हैं सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध। इनमें से सुरभिगन्ध शुभ है और दुरभिगन्ध अशुभ है।

(२०) शुभ रस–जिस कर्मके उदय से जीव के शरीर में आम्रफल आदि के समान मधुर आदि शुभ रस हो उसे शुभ रस नामकर्म कहते हैं।

रस पांच है—तीखा, कडवा, कषैला, खट्टा और मीठा। इनमें से कषैला, खट्टा और मीठा ए तीन शुभ है। तीखा और कडवा अशुभ है।

(२१) शुभ स्पर्श–जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में स्निग्ध (चिकना) आदि शुभ स्पर्श हो उसे शुभ नाम कर्म कहते हैं।

स्पर्श आठ हैं– कर्कश (कठोर), मृदु (कोमल), गुरु (भारी), लघु (हलका), रूक्ष (रूखा), स्निग्ध (चिकना), शीत (ठण्डा), उष्ण (गर्म), । इनमें से मृदु, लघु, स्निग्ध और उष्ण ये चार स्पर्श शुभ है और शेष चार अशुभ हैं।

(२२) अगुरुलघु– जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर

न तो लोहे के समान अत्यन्त भारी हो और न अर्कतूल (आक की रुई) के समान अत्यन्त हलका हो अपितु मध्यम दर्जे का हो उसे अगुरुलघु नाम कर्म कहते हैं।

(२३) पराघात—जिस कर्म के उदय से जीव अन्य बलवानों की दृष्टि में अजेय (दूसरों से न जीता जा सकने वाला) समझा जाता हो उसे पराघात कर्म कहते हैं।

(२४) श्वासोच्छ्वास—जिस कर्म के उदय से जीव श्वासोच्छ्वास ले सके उसको श्वासोच्छ्वास नाम कर्म कहते हैं।

(२५) आतप—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर उष्ण न होकर भी उष्ण प्रकाश करे उसे आतप कर्म कहते हैं। सूर्य के मण्डल में रहने वाले पृथ्वी काय के जीव ऐसे ही हैं। उन्हें आतप नाम कर्म का उदय है अत एव वे स्वयं उष्ण न होते हुए भी उष्ण प्रकाश देते हैं।

(२६) उद्द्योत—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शीतल प्रकाश करने वाला हो उसे उद्द्योत नाम कर्म कहते हैं। चन्द्रमण्डल, ज्योतिष चक्र, रत्नप्रकाश करनेवाली औषधियां और लब्धि से वैक्रियरूप धारण करने वाला शरीर ये सब उद्द्योत नाम कर्म वाले हैं।

(२७)—शुभविहायोगति—जिस कर्म के उदय से जीव हंस, हाथी और वृषभ की चाल के समान चले उसे शुभविहायोगति नाम कर्म कहते हैं।

(२८) निर्माण नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव के

अङ्गोंपाङ्ग नियत स्थानवर्ती हों, उसे निर्माण नाम कर्म कहते हैं। जसे चित्रकार चित्र के यथायोग्य स्थानों में अवयवों को बनाता है वैसे ही निर्माणनाम कर्म भी शरीर के अवयवों को व्यवस्थित करता है।

जिस कर्म के उदय से जीव को त्रस दशक की प्राप्ति हो उसे त्रसदशक नाम कर्म कहते हैं। वे त्रस दशक प्रकृतियाँ ये हैं–

तस बायर पज्जत्ते, पत्तेय थिरं सुभं च सुभगं च।
सुस्सर आइज्ज जस्सं, तसाइदसगं इमं होइ॥

अर्थ–त्रस, वादर पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, और यश ये त्रसदशक हैं।

(२९) त्रस–जिस कर्म के उदय से जीव को त्रस का शरीर मिले उसे त्रस नाम कर्म कहते हैं।

(३०) वादर–जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर या शरीर समुदाय छद्मस्थ से दृष्टि गोचर हो सके इतना स्थूल हो उसे वादर नामकर्म कहते हैं।

(३१) पर्याप्त–जिस कर्म के उदय से जीव अपनी पर्याप्तियों से पूर्ण हो उसे पर्याप्त नामकर्म कहते हैं।

(३२) प्रत्येक–जिस कर्म के उदय से एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो उसे प्रत्येक नामकर्म कहते हैं।

(३३) स्थिर–जिस कर्म के उदय से जीव के दांत, हड्डी आदि अवयवों मजबूत हों उसे स्थिर नाम कर्म कहते हैं।

(३४) शुभ नाम–जिस कर्म के उदय से नाभि के ऊपर का भाग शुभ हो उसे शुभ नाम कर्म कहते हैं।

(३५) सुभग–जिस कर्म के उदय से जीव सब का प्रेमपात्र हो उसे सुभग (सौभाग्य) नाम कर्म कहते हैं।

(३६) सुस्वर–जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर (आवाज) कोयल की तरह मधुर हो उसे सुस्वर नाम कर्म कहते हैं।

(३७) आदेय–जिस कर्म के उदय से जीव का वचन लोगों में आदरणीय हो उसे आदेय कर्म कहते हैं।

(३८) यशःकीर्ति–जिस कर्म के उदय से लोगों में यश और कीर्ति हो उसे *यशः कीर्ति नाम कर्म कहते हैं।

---

*एक दिग्गामिनी कीर्तिः सर्व दिग्गामुकं यशः।

दानपुण्यभवा कीर्तिः, पराक्रम कृतं यशः ॥ १ ॥

अर्थ–एक दिशा में फैलाने वाली प्रशंसा को कीर्ति कहते हैं और सब दिशाओं में (चारों तरफ) फैलाने वाली प्रशंसा को यश कहते हैं। अथवा दान और पुण्य से उत्पन्न प्रशंसा को कीर्ति कहते हैं और पराक्रम अर्थात् पुरुषार्थ से प्राप्त प्रशंसा को यश कहते हैं। वैसे तो कीर्ति और यश एक ही हैं। अपेक्षा कृत यह भेद हैं।

(३९) देवायु–जिस कर्म के उदय से जीव देव योनि में जाता है उसको देवायु कहते हैं।

(४०) मनुष्यायु–जिस कर्म के उदय से जीव मनुष्य-योनि में जाता है उसे मनुष्यायु कहते हैं।

(४१) तिर्यञ्चायु–जिस कर्म के उदय से जीव तिर्यञ्च योनि में जाता है उसे तिर्यञ्चायु कहते हैं।

(४२) तिर्थङ्कर–जिस कर्म के उदय से जीव चौंतीस अतिशयों से युक्त होकर त्रिभुवन का पूज्य होता है उसे तीर्थङ्कर नाम कर्म कहते हैं।

प्र० पुण्य तत्त्व रूपी है या अरूपी?

उ० पुण्य तत्त्व रूपी है।

प्र० पुण्य की अल्प बहुत्व क्या है?

उ० सामान्य रूप से देवगति में पुण्य अधिक है। उससे कम मनुष्य गति में है, उससे कम तिर्यञ्च गति में है और उससे कम नरक गति में है।

यह नौ प्रकार का पुण्य जीव ने अनन्ती बार किया और तीर्थङ्कर नाम कर्म को छोड़कर वाकी इकतालीस प्रकार का पुण्य अनन्ती बार उदय में आया और इस जीव ने इसका भोग भी किया किन्तु समकित प्राप्त हुए विना जीव का कार्य सिद्ध नहीं हुआ। अतः जीव को समकित की प्राप्ति के लिये उद्यम करना चाहिये।

पापतत्व

चारों गति में रहे हुए सब सांसारिक जीव प्रत्येक समय में नये कर्म बांधते रहते हैं। उनमें से शुभ अध्यवसायों से जो कर्म बंधते हैं वे पुण्यरूप होते हैं। यह पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण बनता है। पुण्य के उदय से यथालोभ बातों की प्राप्ति होती है जिनका वर्णन पुण्य तत्त्व में किया जा चुका है। अशुभ अध्यवसायों से जो कर्म बंधते हैं वे पाप रूप होते हैं।

प्र० पाप किसको कहते हैं?

उ० जो आत्मा को मलीन करे, जो बांधते सुखकारी, भोगते दुःखकारी, अशुभयोग से बंधे, सुखपूर्वक बांधा जाय, दुःखपूर्वक भोगा जाय। पाप अशुभ प्रकृति रूप है जिसका फल कडवा, जो जीव को मैला करे उसे पाप कहते हैं।

प्र० पाप के कितने भेद हैं?

उ० सामान्यरूप से पाप के दो भेद हैं—द्रव्यपाप और भाव पाप। अथवा व्यवहार पाप और निश्चय पाप। द्रव्य पाप और व्यवहार पाप दोनों एक हैं तथा भावपाप और निश्चय पाप दोनों एक हैं।

व्यवहार पाप बाहर वर्तता हुआ दिखाई देता है और भाव पाप मानसिक अन्तःकरणरूप होता है। मिथ्यात्वरूप परिणाम,

रागद्वेषरूप परिणाम, कषायरूप परिणाम ये सब भावपाप है। जैसे भाव होते हैं वैसा ही बाहर वर्ताव करता है वह द्रव्यपाप है। भाव पाप द्रव्य पाप का कारण है।

प्र० पाप कर्म कितने प्रकार से बांधा जाता है?

उ० पाप कर्म अठारह प्रकार से बांधा जाता है। वे अठारह प्रकार ये हैं—

(१) प्राणातिपात–प्रमाद पूर्वक प्राणों का अतिपात करना अर्थात् आत्मा से उन्हें अलग करना प्राणातिपात (हिंसा) है। हिंसा की व्याख्या करते हुए कहा गया है–

पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च।
उच्छ्वास निःश्वासमथान्यदायुः॥
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता–
स्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा॥

अर्थ–पांच इन्द्रियां, मन बल, वचन बल, काय बल, श्वासोच्छ्वास और आयु, भगवान् ने ये दस प्राण कहे हैं। इन प्राणों को आत्मासे पृथक् करना हिंसा है। अर्थात् प्राणातिपात है।

प्राणातिपात द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। विनाश, परिताप और संक्लेश के भेद से प्राणातिपात तीन प्रकार का है। पर्याय का नाश करना विनाश है। दुःख उत्पन्न करना परिताप है और क्लेश पहुंचाना संक्लेश है। तीन करण और तीन योग के भेद से प्राणातिपात नव प्रकार का

है। इन्हीं नौ भेदों को क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों से गुणा करने से प्राणातिपात के छत्तीस भेद हो जाते हैं।

(२) मृषावाद–मिथ्या वचन कहना मृषावाद है। द्रव्य और भाव के भेद से मृषावाद दो प्रकार का है। भूतनिह्नव अभूतोद्भावन, वस्त्वन्तरन्यास और निन्दा के भेद से मृषावाद के चार भेद हो जाते हैं। भूतनिह्नव का दूसरा नाम सद्भाव प्रतिषेध है। विद्यमान वस्तु का निषेध करना भूतनिह्नव (सद्भाव प्रतिषेध) है। जैसे यह कहना कि–आत्मा, पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक आदि नहीं है।

अभूतोद्भावन (असद्भावोद्भावन)–अविद्यमान वस्तु का अस्तित्व बताना। जैसे यह कहना कि–आत्मा सर्व व्यापी है, ईश्वर जगत् का कर्ता है, आदि

वस्त्वन्तरन्यास (अर्थान्तरन्यास)–एक पदार्थ को दूसरा पदार्थ बताना वस्त्वन्तरन्यास है। जैसे–गाय को घोड़ा बताना।

निन्दा (गर्हा) दोष प्रकट कर किसी को पीडाकारी वचन कहना निन्दा (गर्हा) है। जैसे–काणे को काणा कहना, चोर को चोर कहना, कोढी को कोढी कहना आदि।

(दश. अ. ४ सत्यव्रत की टीका)

उपरोक्त वचन सत्य होते हुए भी पर पीडाकारी होने से अप्रिय हैं। अतः मृषावाद हैं। क्या जंगल में तुमने मृग देखे हैं? शिकारियों के यह पूछने पर मृग देखने वाले

पुरुष का उन्हें विधिरूप में उत्तर देना अहित वचन है। यह वचन व्यवहार में सत्य होते हुए भी प्राणियों की हिंसा जनित पाप का हेतु होने से सावद्य है। इसलिए हिंसा युक्त होने से वास्तव में असत्य ही है।

(३) अदत्तादान—कहीं पर भी ग्राम, नगर, जंगल आदि में सचित, अचित, अल्प, वहु, अणु, स्थूल आदि वस्तु को उसके स्वामी की आज्ञा विना लेना अदत्तादान है। यह अदत्तादान स्वामी, जीव, तीर्थङ्कर एवं गुरु के भेद से चार प्रकार का है।

स्वामी की बिना दी हुई कोई भी वस्तु लेना स्वामी-अदत्तादान है।

कोई सचित बस्तु उसके स्वामी ने दे दी हो परन्तु उस शरीर के अधिष्ठाता (स्वामी) जीव की आज्ञा विना उसे लेना जीव अदत्तादान है। जैसे—माता पिता या संरक्षक द्वारा पुत्रादि शिष्यभिक्षा रूप में दिये जाने पर भी उन्हें उनकी इच्छा विना दीक्षा लेने के परिणाम न होने पर भी उनकी अनुमति के विना उन्हें दीक्षा देना जीव अदत्तादान है। इसी प्रकार सचित पृथ्वी आदि स्वामी द्वारा दिये जाने पर भी पृथ्वी शरीर के स्वामी जीव की आज्ञा न होने से उसे अपने उपयोग (उपभोग) में लेना जीव अदत्तादान है।

तीर्थङ्कर भगवान् के द्वारा निषेध किये हुए कार्य करना तीर्थङ्कर अदत्तादान है।

स्वामी द्वारा निर्दोष आहारादि दिये जाने पर भी गुरु

की आज्ञा प्राप्त किये बिना उसे भोगना गुरु-अदत्तादान है।

(४) मैथुन-स्त्री पुरुष के सहवास को मैथुन कहते हैं। देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी, और तिर्यञ्च सम्बन्धी यह तीन प्रकार का मैथुन है। इसके तीन करण और तीन योग के भेद से सामान्यतः नौ भेद हो जाते हैं। और विशेषरूप से अनेक भेद हो जाते हैं।

(५) परिग्रह-अल्प, बहु, अणु, स्थूल, सचित, अचित्त आदि समस्त द्रव्य विषयक परिग्रह का तीन करण तीन योग से ग्रहण करना परिग्रह है। इसके दो भेद हैं-भाव परिग्रह और द्रव्य परिग्रह। मूर्च्छा ममत्व का होना भाव परिग्रह है। मूर्च्छाभाव का कारण होने से बाह्य सकल वस्तुएँ द्रव्य परिग्रह हैं। दूसरी तरह से भी परिग्रह के दो भेद हैं- बाह्य परिग्रह और आभ्यन्तर परिग्रह। धर्मसाधन के सिवाय धनधान्यादि ग्रहण करना बाह्य परिग्रह है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि आभ्यन्तर परिग्रह है।

(६) क्रोध-मोहनीय के उदय से होने वाला, कृत्य (कार्य) अकृत्य (अकार्य) के विवेक को हटाने वाला प्रज्वलन स्वरूप आत्मा के परिणाम को क्रोध कहते हैं। क्रोधवश जीव किसी की बात सहन नहीं करता और बिना विचारे अपने और पराए अनिष्ट के लिये हृदय में और बाहर जलता रहता है।

क्रोध शुभ परिणामों को नाश करता है। यह सर्व प्रथम

अपने स्वामी को जलाता है और बाद में दूसरों को। क्रोध से विवेक दूर भागता है और उसका प्रतिपक्षी अविवेक आकर जीव को अकार्य में प्रवृत्त करता है। क्रोध सदाचार को दूर भगाता है और मनुष्य को दुराचार में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करता है। क्रोध वह अग्नि है जो चिरकाल से अभ्यस्त यम नियम तप आदि को क्षण भर में भस्म कर देती है। क्रोध के वश होकर द्वीपायन ऋषि ने स्वर्ग सरीखी सुन्दर द्वारिका नगरी को जला कर भस्म कर दिया। दोनों लोक बिगाडने वाला, पापमय स्व पर का अपकार करने वाला यह क्रोध वास्तव में प्राणियों का महान् शत्रु है। इस क्रोध को शान्त करने का एक उपाय क्षमा है।

(७) मान–मोहनीय कर्म के उदय से जाति आदि गुणों में अहंकार–बुद्धि रूप आत्मा के परिणाम को मान कहते हैं। मानवश जीव में छोटे बडे के प्रति उचित आदरभाव नहीं रहता। मानी जीव अपने को बड़ा समझता है और दूसरों को तुच्छ समझता हुआ उनकी अवहेलना करता है। मान (गर्व) वश वह दूसरों के गुणों को सहन नहीं कर सकता।

कुल, जाति, बल, रूप, तप, विद्या, लाभ और ऐश्वर्य का मान करना नीच गोत्र के बन्ध का कारण है। मान विवेक को भगा देता है और आत्मा को शील, सदाचार से गिरा देता है। यह विनय का नाश कर देता है और विनय के साथ ज्ञान का भी नाश कर देता है। फिर आश्चर्य तो

यह है कि मान से जीव ऊंचा बनना चाहता है परन्तु कार्य करता है नीचे होने का। इसलिए उन्नति के इच्छुक आत्मा को मान का त्याग कर विनय का आश्रय लेना चाहिये।

(८) माया—मोहनीय कर्म के उदय से मन, वचन, काया की कुटिलता द्वारा परवञ्चना अर्थात् दूसरे के साथ ठगाई, कपटाई, दगा रूप आत्मा के परिणाम विशेष को माया कहते हैं।

माया अविद्या (अज्ञान) की जननी है और अकीर्ति का घर है। माया पूर्वक सेवित तप संयमादि अनुष्ठान नकली सिक्के की तरह असार है और स्वप्न तथा इन्द्रजाल की माया के समान निष्फल है। माया एक शल्य है, वह आत्मा को व्रतधारी नहीं बनने देती, क्यों कि जो निःशल्य होता है वही व्रती होता है। माया इस लोक में तो अपयश देती है और परलोक में दुर्गति। ऋजुता अर्थात् सरलता धारण करने से माया कषाय नष्ट होती है। इसलिए माया का त्याग कर सरलता को अपनाना चाहिये।

(९) लोभ—मोहनीय कर्म के उदय से द्रव्यादि विषयक इच्छा, मूर्च्छा ममत्वभाव एवं तृष्णा अर्थात् असन्तोषरुप आत्मा के परिणाम विशेष को लोभ कहते हैं।

लोभ कषाय सब पापों का आश्रय है। इसके पोषण के लिए जीव माया का भी आश्रय लेता है। सभी जीवों में जीने की इच्छा प्रबल होती है और मृत्यु को कोई नहीं

चाहता, परन्तु लोभ इसके विपरीत जीवों को ऐसे कार्यों में प्रवृत्त करता है जिनमें सदा मृत्यु का खतरा बना रहता है। यदि जीव वहीं मर गया तो लोभ के परिणाम स्वरुप वह दुर्गति में चला जाता है जहां उसे अनेक दुःख भोगने पड़ता हैं। ऐसी अवस्था में उसका यहां का सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। यदि उससे लाभ भी हो गया तो उसके भागी और ही होते हैं। अधिक क्या कहा जाय, लोभी आत्मा को स्वामी, गुरु, भाई, स्त्री, बालक, वृद्ध, क्षीण, दुर्बल, अनाथ आदि की हत्या करने में भी हिचकिचाहट नहीं होती। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि शास्त्रकारों ने नरक गति के कारण रूप जो दोष बताये हैं वे सभी दोष लोभ से प्रकट होते हैं। लोभ की औषधि सन्तोष है। इसलिए इच्छा को रोक कर सन्तोष को धारण करना चाहिये।

(१०) राग—माया और लोभ जिसमें अप्रकट रूप से विद्यमान हो ऐसा आसक्ति रूप जीव का परिणाम राग कहलाता है।

(११) द्वेष—क्रोध और मान जिसमें अप्रकट रूप से मौजूद हो ऐसा अप्रीतिरूप जीव का परिणाम द्वेष है।

(१२) कलह—लड़ाई, झगडा करना कलह है।

(१३) अभ्याख्यान—प्रकटरूप से अविद्यमान दोषों का आरोप लगाना (झूठा आल देना) अभ्याख्यान है।

(१४) पैशुन्य–पीठ पीछे किसी के दोष प्रकट करना (चाहे उसमें हों या न हों) पैशुन्य है।

(१५) पर परिवाद–दूसरे की बुराई करना, निन्दा करना परपरिवाद है।

(१६) रति अरति–अनुकूल विषयों के प्राप्त होने पर मोहनीय कर्म के उदय से चित्त में जो आनन्द रूप परिणाम उत्पन्न होता है वह रति है।

प्रतिकूल विषयों के प्राप्त होने पर मोहनीय कर्म के उदय से चित्त में जो उद्वेग पैदा होता है उसे अरति कहते हैं।

जीव को जब एक विषय में रति होती है तब दूसरे विषय में स्वतः अरति हो जाती है। यही कारण है कि एक वस्तु विषयक रति को ही दूसरे विषय की अपेक्षा से अरति कहते हैं। इसी लिए दोनों को एक पापस्थानक गिना है। अथवा आरम्भादि असंयम व प्रमाद में प्रीति को रति कहते है और तप संयम आदि में अप्रीति को अरति कहते हैं।

(१७) मायामृषावाद–माया (कपट) पूर्वक झूठ बोलना मायामृषावाद है। दो दोषों के संयोग से यह पाप स्थानक माना गया है। इसी प्रकार मान और मृषा इत्यादि के संयोग से होने वाले पापों का भी इसी में अन्तर्भाव समझना चाहिये। वेष बदल कर लोगों को ठगना मायामृषा है ऐसा भी इसका अर्थ किया जाता है।

(१८) मिथ्यादर्शन शल्य—श्रद्धा का विपरीत होना मिथ्या दर्शन है। जैसे शरीर में चुभा हुआ शल्य सदा कष्ट देता है। इसी प्रकार मिथ्यादर्शन भी आत्मा को दुःखी बनाये रखता है, इसी लिए इसे शल्य कहा है।

भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ९ में भगवानने फरमाया है कि—जीव इन अठारह पापस्थानों से कर्मों का संचय कर भारी बनता है और इनका त्याग करने से हल्का होता है। बारहवें शतक के पांचवें उद्देशे में अठारह पाप स्थानों को चतुः स्पर्शी बतलाया है।

इन अठारह स्थानों से बांधा हुआ पाप बयासी प्रकार से भोगा जाता है। वे बयासी प्रकृतियों इस प्रकार हैं—*ज्ञानाव-

---

*इन ८२ प्रकृति के लिए नव तत्त्व में गाथाएं इस प्रकार दी गई हैं—

णाणंतरायदसगं, णव बीयणीय साय मिच्छत्तं।
थावर दस णरय तिगं, कसाय पणवीस तिरियदुगं॥
इग बि ति चउ जाइओ, कुखगई उवघाय हुंति पावस्स।
अपसत्थं वण्णचऊ, अपढम संघयण संठाणा।

स्थावर दशक इस प्रकार है—

थावर सुहुम अपज्जं, साहारण मथिर सुभमदुभगाणि।
दुस्सरणाइज्ज जसं, थावरदसगं विवज्जत्थं॥

रणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की १, मोहनीय की २६, आयुकर्म की १, नाम कर्म की ३४, गोत्र कर्म की १, अन्तराय कर्म की ५। ये सब ८२ हुई।

अब इनके अलग अलग नाम कहे जाते —

ज्ञानावरणीय कर्म की ५ प्रकृतियों-ज्ञान के आवरण करने वाले कर्म को ज्ञानावरणीय कहते हैं। जिस प्रकार आँख पर कपडे की पट्टी लपेटने से वस्तुओं के देखने में रूकावट हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव से आत्मा को पदार्थ का ज्ञान करने में रूकावट पड़ जाती है परन्तु यह कर्म आत्मा को सर्वथा ज्ञान शून्य अर्थात् जड़ नहीं कर देता है। जैसे छने बादलों से सूर्य के ढक जाने पर भी सूर्य का दिन रात का भेद बताने वाला प्रकाश तो रहता ही है। उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म से ज्ञान के ढक जाने पर भी जीव में इतना ज्ञान तो रहता ही है कि वह जड़ पदार्थ से पृथक् समझा जा सके।

ज्ञानावरणीय कर्म के पांच भेद हैं-

(१) मति ज्ञानावरणीय-मन और पांच इन्द्रियों के सम्बन्ध से जीव को जो ज्ञान होता है उसे मति ज्ञान कहते है। उस ज्ञान का आवरण करने वाले कर्म को मति ज्ञानावरणीय कहते हैं।

(२) श्रुत ज्ञानावरणीय-शास्त्र को द्रव्यश्रुत कहते हैं और उसके सुनने से जो ज्ञान होता है उसे भावश्रुत कहते

हैं। इन दोनों का जो आवरण करता है उसे श्रुतज्ञानावरणीय कहते हैं।

(३) अवधिज्ञानावरणीय–अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों की सहायता के विना आत्मा को रूपी पदार्थों का जो मर्यादित ज्ञान होता है उसको अवधि ज्ञान कहते हैं। उस ज्ञान का जो आवरण करे उसे अवधिज्ञानावरणीय कहते हैं।

मनः पर्याय ज्ञानावरणीय–अढाईद्वीप में रहे हुए संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के मन की बात जिस ज्ञान से जानी जाय उसे मनः पर्याय ज्ञान कहते हैं। उसको आवरण करने वाला मनः पर्याय ज्ञानावरणीय कहलाता है।

(५) केवल ज्ञानावरणीय–केवल अर्थात् प्रतिपूर्ण जिसके समान दूसरा कोई ज्ञान नहीं है अर्थात् लोकालोक की संपूर्ण रूपी अरूपी वस्तु को जानने वाला केवल ज्ञान कहलाता है। उसका जो आवरण करे (ढके) उसको केवल ज्ञानावरणीय कहते हैं।

दर्शनावरणीय की ९ प्रकृतियां

वस्तु के सामान्य ज्ञान को दर्शन कहते हैं। आत्मा को दर्शन शक्ति को ढकने वाला कर्म दर्शनावरणीय कहलाता है। दर्शनावरणीय कर्म द्वारपाल के समान है। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन करने में रूकावट डालता है, उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म पदार्थों को देखने में रूकावट डालता है

अर्थात् आत्मा की दर्शन शक्तिको प्रकट नहीं होने देता। इसके नौ भेद हैं–

(१) चक्षु दर्शनावरणीय–चक्षु अर्थात् आँख से पदार्थों का जो सामान्य ज्ञान होता है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं, उसका आवरण करने वाला चक्षुदर्शनावरणीय कहलाता है।

(२) अचक्षुदर्शनावरणीय–श्रोत्र, घ्राण, रसना, स्पर्शन और मन के सम्बन्ध से शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श का जो सामान्य ज्ञान होता है उसे अचक्षु दर्शन कहते हैं। उसका आवरण करने वाला अचक्षु दर्शनावरणीय कहलाता है।

(३) अवधिदर्शनावरणीय–इन्द्रियों की सहायता के बिना रूपी द्रव्य का जो सामान्य बोध होता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं। उसका आवरण करने वाला अवधिदर्शनावरणीय है।

(४) केवल दर्शनावरणीय–संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का जो सामान्य अवबोध होता है उसे केवलदर्शन कहते हैं, उसका आवरण करने वाला केवलदर्शनावरणीय कहते हैं।

(५) निद्रा–सोया हुआ आदमी जरा सी खटखटाहट से या आवाज से जाग जाता है उस निंद को 'निद्रा' कहते हैं। जिस कर्म से ऐसी निंद आवे उस कर्म को 'निद्रा' कहते हैं।

यहां यह शङ्का हो सकती है कि ऐसी निंद (निद्रा) तो लोक में श्रेष्ठ मानी जाती है और निंद सुखका हेतु है, फिर उसकी गिनती पापकर्म में कैसे की गई ?

इसका समाधान यह है कि जो जीव ज्ञान दर्शन चारित्र आदि आत्मगुणों के सम्पादन में अपना एक समय भी निष्फल गंवाता है, प्रमाद करता है वह अधन्य माना जाता है तो निद्रा में तो न मालूम कितना समय व्यर्थ चला जाता है! इसलिए निद्रा की गणना पापकर्म में की गई है।

(६) निद्रानिद्रा–जोर से आवाज देने पर या देह हिलाने से जो आदमी बड़ी मुश्किल से जागता हैं उसकी निंद को 'निद्रानिद्रा' कहते हैं।

(७) प्रचला–खड़े खड़े या बैठे बैठे जिसको निंद आती है उसकी निंद को 'प्रचला' कहते है, जिस कर्म के उदय से ऐसी निंद आवे उस कर्म का नाम 'प्रचला' है।

(८) प्रचला प्रचला–चलते फिरते जिस को निंद आती है, उसकी निंद को 'प्रचला प्रचला' कहते हैं, जिस कर्म से ऐसी निंद आवे उस कर्म को 'प्रचला प्रचला' कहते हैं।

(९) स्त्यानगृद्धि–जो दिन में सोचे हुए कामको रात में निंद की हालत में कर डालता है उस निंद को स्त्यानगृद्धि कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसी निंद आवे उसका नाम स्त्यान गृद्धि है। जब स्त्यानगृद्धि (स्त्यानार्द्धि) कर्म का उदय होता है तब वज्रऋषभ नाराच संहनन वाले जीव में वासुदेव का आधा बल आ जाता है। यदि उस समय उस जीव की मृत्यु हो जाय और उसने यदि पहले आयु न बांधी हो तो नरक गति में जाता है।

वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियों में से एक असाता वेदनीय पाप प्रकृति है। जिस कर्म के उदय से जीव दुःख का अनुभव करे उसे असाता वेदनीय कहते है।

मोहनीय कर्म की २६ प्रकृतियां—चार कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ। इन चारों के प्रत्येक के चार चार भेद हैं—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। इस प्रकार कषाय के १६ भेद। नोकषाय के नौं भेद—हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और मिथ्यात्व मोहनीय।

अब इनका अर्थ बताया जाता है—

क्रोध मान माया लोभ इन चारों को कषाय कहते हैं। इनके प्रत्येक के चार चार भेद हैं—

(१) अनन्तानुबन्धी (२) अप्रत्याख्यान।

(३) प्रत्याख्यानावरण (४) संज्वलन।

जिस कषाय के प्रभाव से जीव अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता है उस कषाय को अनन्तानुबंधी कहते हैं। यह कषाय सम्यक्त्व का घात करता है एवं जीवन पर्यन्त बना रहता है। इस कषाय से जीव नरक गति योग्य कर्मों का बन्ध करता है।

अप्रत्याख्यान—जिस कषाय के उदय से देश विरति रूप अल्प (थोड़ा सा भी) प्रत्याख्यान नहीं होता उसे अप्रत्याख्यान कषाय कहते हैं। इस कषाय से श्रावक धर्म की

प्राप्ति नहीं होती। यह कषाय एक वर्ष तक बना रहता है। और इससे तिर्यञ्च गति योग्य कर्मों का बन्ध होता है।

प्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के उदय से सर्व-विरति रूप प्रत्याख्यान रुक जाता है अर्थात् साधु धर्म की प्राप्ति नहीं होती वह प्रत्याख्यानावरण कषाय है। वह कषाय चार मास तक बना रहता है। इसके उदय से मनुष्य गति योग्य कर्मों का बन्ध होता है।

संज्वलन—जो कषाय परिषह और उपसर्ग के आजाने पर मुनियों को भी थोड़ा सा जलाता है अर्थात् उन पर भी थोड़ा सा असर दिखाता है उसको संज्वलन कषाय कहते हैं। यह कषाय सर्व विरति रूप साधु धर्म में बाधा नहीं पहुंचाता परन्तु सब से ऊंचे यथाख्यात चारित्र में बाधा पहुंचाता है। यह कषाय दो मास तक बना रहता है। और इससे देवगति योग्य कर्मों का बन्ध होता है।

ऊपर कषायों की जो स्थिति और नरकादि गति बताई गई है वह बाहुल्यता की अपेक्षा से है क्यों कि बाहुबलि मुनि को संज्वलन कषाय एक वर्ष तक रह गया था और प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को अनन्तानुबन्धी कषाय अन्तर्मुहूर्त तक ही रहा था। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषाय के रहते हुए मिथ्या दृष्टियों का नवग्रैवेयक तक में उत्पन्न होना शास्त्र में वर्णित है।

(पन्नवणा सूत्र पद १४ तथा २३)

क्रोध के चार भेद और उनकी उपमाएं—

अनन्तानुबन्धी क्रोध-पर्वत के फटने पर जो दरार होती है, उसका मिलना (पुनः एक हो जाना) कठिन है। उसी प्रकार जो क्रोध किसी उपाय से शान्त नहीं होता वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

अप्रत्याख्यानक्रोध-सूखे तालाब आदि में मिट्टी के फट जाने पर जो दरार हो जाती है वह जब वर्षा होती है तब वापिस मिल जाती है, उसी प्रकार क्रोध विशेष परिश्रम से शान्त होता है वह अप्रत्याख्यान क्रोध है।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध-बालू रेत में लकीर खींचने पर कुछ समय में हवा से वह लकीर वापिस भर जाती है उसी प्रकार जो क्रोध कुछ उपाय से शान्त हो वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध है।

संज्वलन क्रोध-पानी में खींची हुई लकीर जैसे खींचने के साथ ही मिट जाती है उसी प्रकार क्रोध शीघ्र ही शान्त हो जाय उसे संज्वलन क्रोध कहते हैं।

मान के चार भेद और उनकी उपमाएं-

अनन्तानुबन्धी मान-जैसे पत्थर का खम्भा अनेक उपाय करने पर भी नहीं नमता है उसी प्रकार जो मान किसी भी उपाय से दूर न किया जा सके वह अनन्तानुबन्धी मान है।

अप्रत्याख्यान मान-जैसे हड्डी अनेक उपायों से नमती

है उसी प्रकार जो मान अनेक उपायों से अति परिश्रम पूर्वक दूर किया जा सके वह अप्रत्याख्यान मान है।

प्रत्याख्यानावरण मान–जैसे लकडी को तैल आदि की मालिश से नमाया जा सकता है उसी प्रकार जो मान थोडे उपायों से नमाया जा सके वह प्रत्याख्यानावरण मान है।

संज्वलनमान–जैसे लता (बेलडी) या तिनका बिना परिश्रम के सहज में नमाया जा सकता है उसी प्रकार जो मान सहज ही छुट जाता है वह संज्वलन मान है।

माया के चार भेद और उनकी उपमाएँ–

अनन्तानुबन्धी माया–जैसे बांस की कठिन जड़ का टेढापन किसी भी उपाय से दूर नहीं किया जा सकता उसी प्रकार जो माया किसी भी प्रकार दूर न हो अर्थात् सरलता रूप में परिणित न हो वह अनन्तानुबन्धी माया है।

अप्रत्याख्यान माया–जैसे मेंढे का टेढा सींग अनेक उपाय करने पर बड़ी मुश्किल से सीधा होता है उसी प्रकार जो माया अत्यन्त परिश्रम से दूर की जा सके, वह अप्रत्याख्यान मायां है।

प्रत्याख्यानावरण माया–जैसे चलते हुए बैल के मूत्र की टेढी लकीर हो जाती हैं। वह सूख जाने पर पवनादि से मिट जाती है। इसी प्रकार जो माया सरलतापूर्वक दूर की जा सके, उसे प्रत्याख्यानावरण माया कहते हैं।

संज्वलन माया–छीले जाते हुए बांस के छिलके का

टेढापन विना प्रयत्न के सहज ही मिट जाता है, उसी प्रकार जो माया विना परिश्रम के शीघ्र ही अपने आप दूर हो जाय वह संज्वलन माया है।

लोभ के चार भेद और उनकी उपमाएं–

अनन्तानुवन्धी लोभ–जैसे किरमची रंग किसी भी उपाय से नहीं छूटता, उसी प्रकार जो लोभ किसी भी उपाय से दूर न हो वह अनन्तानुवन्धी लोभ है।

अप्रत्याख्यान लोभ–जैसे नगर का कीच, परिश्रम करने पर अति कष्टपूर्वक छूटता है, उसी प्रकार जो लोभ अति परिश्रम से कष्टपूर्वक दूर किया जा सके वह अप्रत्याख्यान लोभ है।

प्रत्याख्यानावरण लोभ–जैसे गाड़ी के पहिये का खंजन (कीटा) साधारण परिश्रम से छूट जाता है, उसी प्रकार जो लोभ कुछ परिश्रम से दूर हो वह प्रत्याख्यानावरण लोभ है।

संज्वलन लोभ–जैसे हल्दी का रंग सहज ही छूट जाता है, उसी प्रकार जो लोभ आसानी से स्वय दूर हो जाय वह संज्वलन लोभ है। (ठाणांग ४ उ २)

प्र० किस गति में किस कषाय की अधिकता होती है?

उ० नरकगति में क्रोध की अधिकता होती है।

(२) तिर्यञ्च गति में माया की अधिकता होती है।

(३) मनुष्यगति में मान की अधिकता होती है।

(४) देवगति में लोभ की अधिकता होती है।

(पन्नवणा सूत्र पद १४वां)

प्र० क्रोध के कितने प्रकार हैं?

उ० क्रोध के चार प्रकार हैं–आभोग निवर्तित, अनाभोग निवर्तित, उपशान्त और अनुपशान्त

आभोग निवर्तित–पुष्ट कारण होने पर यह सोच कर कि 'ऐसा किये विना इसे शिक्षा नहीं मिलेगी।' जो क्रोध किया जाता है वह आभोग निवर्तित क्रोध है। अथवा–क्रोध के विपाक को जानते हुए जो क्रोध किया जाता है उसे आभोग निर्वातत क्रोध कहते हैं।

अनाभोग निवर्तित–जब कोई पुरुष यों ही गुण दोष का विचार किये विना परवश होकर क्रोध कर बैठता है अथवा–क्रोध के विपाक को न जानते हुए क्रोध करता है तो उसका क्रोध अनाभोग निवर्तित क्रोध है।

उपशान्त–जो क्रोध सत्ता में हो किन्तु उदयावस्था में न हो वह उपशान्त क्रोध है।

अनुपशान्त–उदयावस्था में रहा हुआ क्रोध अनुपशान्त क्रोध है।

इसी प्रकार मान, माया और लोभ के भी चार चार भेद हैं। (ठाणांग सूत्र ठाणा ४ उ. १)

प्र० क्रोध की उत्पत्ति के कितने कारण हैं?

उ० क्रोध की उत्पत्ति के चार कारण हैं—

(१) क्षेत्र अर्थात् नैरिये आदि का अपना अपना उत्पत्ति स्थान, (२) सचेतन आदि वस्तु अथवा वास्तु–घर। (३) शरीर।

(४) उपकरण। इन चार कारणों से क्रोध की उत्पत्ति होती है।

इन्हीं चार बातों का आश्रय ले कर मान, माया और लोभ की भी उत्पत्ति है। (ठाणांग ४ उ. १)

प्र० क्रोधादि कषाय से क्या हानियाँ होती हैं?

उ० क्रोध आदि चार कषाय ससार के मूल का सिंचन करने वाले हैं। इनके सेवन से जीव को इहलौकिक और पारलौकिक अनेक दुःख होते हैं। यहां इहलौकिक हानियां बताई जाती हैं—

क्रोध प्रीति को नष्ट करता है। मान विनय का नाश करता है। माया मित्रता का नाश करती है ओर लोभ प्रीति, विनय तथा मित्रता आदि सभी गुणों को नष्ट करने वाला है। (दशवै. अ. ८)

प्र० कषाय को जीतने के क्या उपाय हैं?

उ० कषाय को जीतने के चार उपाय हैं—

(१) शान्ति और क्षमा द्वारा क्रोध को निष्फल करके दबा देना चाहिये।

(२) मृदुता अर्थात् कोमल वृत्ति द्वारा मान पर विजय प्राप्त करनी चाहिये।

(३) ऋजुता अर्थात् सरल भाव से माया का मर्दन करना चाहिये-माया पर विजय प्राप्त करनी चाहिये।

(४) सन्तोष से लोभ को जितना चाहिये।

(दशवै. अ. ८)

ये कषाय के १६ भेद हुए। अब नोकषाय का अर्थ बताया जाता है—

(१७) हास्य–जिस कर्म के उदय से बिना कारण या कारणवश हंसी आवे उसे हास्य मोहनीय कहते हैं।

(१८) जिस कर्म के उदय से अच्छे अच्छे मनपसन्द सांसारिक पदार्थों में अनुराग हो उसे 'रति मोहनीय' कहते हैं।

(१९) जिस कर्म के उदय से मननापसन्द बुरी चीजों से अरुचि हो उसे 'अरति मोहनीय' कर्म कहते हैं।

(२०) जिस कर्म के उदय से कारण से अथवा बिना कारण से मन में भय पैदा हो उसे 'भय मोहनीय' कर्म कहते हैं।

(२१) जिस कर्म के उदय से इष्ट वस्तु का वियोग होने पर मन में शोक पैदा हो उसे 'शोक मोहनीय' कहते हैं।

(२२) जिस कर्म के उदय से दुर्गन्धि या वीभत्स (नफरत पैदा करने वाले) पदार्थों को देख कर घृणा उत्पन्न हो उसे 'जुगुप्सा मोहनीय' कर्म कहते हैं।

(२३) जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ रमण करने की (मैथुन सेवन की) अभिलाषा होती है उसे स्त्री वेद कहते हैं।

(२४) जिस कर्म के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ करने की अभिलाषा होती है उसे पुरुष वेद कहते हैं।

(३) तिर्यञ्चगति–जिस कर्म के उदय से जीव तिर्यञ्च-योनि में जाता है उसे तिर्यञ्च गति कहते हैं।

(४) तिर्यञ्चानुपूर्वी–दूसरी गति में जाते हुए जीव को जो जबरदस्ती खींच कर तिर्यञ्च गति में ले जावे उसे तिर्यञ्चानुपूर्वी कहते हैं।

(५–८) जाति चार–जिस कर्म के उदय से जीव को एकेन्द्रिय जाति मिले उसे एकेन्द्रिय जाति नामकर्म कहते हैं इसी तरह बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौइन्द्रिय जाति नाम कर्म समझ लेना चाहिये।

जिन जीवों के स्पर्शन नामक एक ही इन्द्रिय होती है वे एकेन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे पृथ्वी पानी आदि।

जिन जीवों के स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियों होती हैं वे बेइन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे–शंख, सीप, लट, गिंडोला, अलसिया आदि।

जिन जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण, (नाक) ये तीन इन्द्रियों होती है उन्हें तेइन्द्रिय कहते हैं। जैसे चींटी, मकोड़ा आदि।

जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु (नेत्र) ये चार इन्द्रियों होती हैं उन्हें चौइन्द्रिय कहते हैं। जैसे–मक्खी मच्छर, भंवरा आदि।

(९) ऋषभ नाराच संहनन–हड्डियों की सन्धि में दोनों

ओर से मर्कटवन्ध और उन पर लपेटा हुआ पट्टा हो लेकिन कील न हो उसे ऋषभ नाराच संहनन कहते हैं।

(१०) नाराच संहनन—दोनों तरफ सिर्फ मर्कटवन्ध हो वह नाराच संहनन कहते है।

(११) अर्द्ध नाराच संहनन—एक तरफ मर्कट वन्ध हो और दूसरी तरफ खीला हो उसे अर्द्ध नाराच संहनन कहते हैं।

(१२) कीलिका संहनन—मर्कन्टवन्ध न होकर सिर्फ कीलों से ही हड्डियों जुडी हुई हों उसे कीलिका संहनन कहते हैं।

(१३) छेवट्ट (सेवार्त्त)—खीला न होकर सिर्फ हड्डियों परस्पर में जुडी हुई हों उसे छेवट्ट (सेवार्त्त) संहनन कहते हैं।

(१४) न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान—वटवृक्ष को न्यग्रोध कहते हैं। उसका ऊपरी भाग जैसा अति विस्तार युक्त सुशोभित होता है वैसा नीचे का भाग नहीं होता है। उसी तरह नाभि के ऊपर का भाग विस्तृत हो और नाभि से नीचे का भाग वैसा न हो उसे न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान कहते हैं।

(१५) सादि संस्थान—जिस संस्थान में नाभि के नीचे का भाग पूर्ण हो और ऊपर का भाग हीन हो उसे सादि संस्थान कहते हैं।

(१६ कुब्ज संस्थान—जिस शरीर में हाथ पैर सिर गर्दन आदि अवयव ठीक हों परन्तु छाती पेट पीठ आदि टेढे हों उसे कुब्ज संस्थान कहते हैं।

(१७) वामन संस्थान—जिस शरीर में छाती, पीठ, पेट आदि अवयव पूर्ण हों परन्तु हाथ, पैर आदि अवयव छोटे हों उसे वामन संस्थान कहते हैं।

(१८) हुण्डक संस्थान—जिस शरीर के समस्त अवयव वेढव हों उसे हुण्डक संस्थान कहते हैं।

(१९-२२) अशुभ वर्ण—जिन कर्मों से जीव का शरीर अशुभ वर्ण वाला हो उसे अशुभ वर्ण नामकर्म कहते हैं। इसी तरह अशुभ गन्ध, अशुभ रस और अशुभ स्पर्श नाम कर्म भी समझ लेना चाहिये।

(२३) अशुभ विहायोगति—जिस कर्म के उदय से जीव ऊंट या गधे की चाल जैसा चले उसे अशुभ विहायोगति नाम कर्म कहते हैं।

(२४) उपघात नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवों से दुःखी हो उसे उपघात नाम कर्म कहते हैं। वे अवयव प्रतिजिह्वा (पडजीभ), गण्डमाला, चोर दांत आदि हैं।

(२५) स्थावर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से स्थावर शरीर की प्राप्ति हो उसे स्थावर नामकर्म कहते हैं। स्थावर एकेन्द्रिय जीव सर्दी और गर्मी से अपना बचाव करने के लिए चल फिर नहीं सकते। जैसे पृथ्वी पानी आदि के जीव।

(२६) सूक्ष्म नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म (आंख से नहीं दिखने योग्य) शरीर मिले उसे सूक्ष्म

नामकर्म कहते हैं। निगोद के जीव सूक्ष्म शरीर वाले होते हैं।

(२७) अपर्याप्त नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव अपनी पर्याप्ति पूरी किये विना ही मर जावे उसे अपर्याप्त नामकर्म कहते हैं।

(२८) साधारण नामकर्म—जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों को एक शरीर मिले उसे साधारण नामकर्म कहते हैं।

(२९) अस्थिर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव के कान, भौं जीभ, होठ आदि अवयव अस्थिर होते हैं। (स्वतः हिलते रहते हैं) उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं।

(३०) अशुभ नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव के अवयव अशुभ होते हैं उसे अशुभ नामकर्म कहते हैं।

(३१) दुर्भग नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव किसी का प्रीतिपात्र न हो उसे दुर्भग नामकर्म कहते हैं।

(३२) दुःस्वर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर सुनने में बुरा लगे उसे दुःस्वर नामकर्म कहते हैं।

(३३) अनादेय नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन लोगों में माननीय न हो उसे अनादेय नामकर्म कहते हैं।

(३४) अयशः कीर्ति नामकर्म—जिस कर्म के उदय से लोक में अपयश और अपकीर्ति हो उसे अयशःकीर्ति नामकर्म कहते हैं।

गोत्रकर्म की दो प्रकृतियाँ हैं। उनमें से एक प्रकृति (नीचगोत्र) पापप्रकृति है।

१ नीचगोत्र–जिस कर्म के उदय से नीच कुल में जन्म हो उसे ‘ नीच गोत्र ’ कहते हैं।

अन्तराय कर्म की पांच प्रकृतियां हैं—

जो कर्म आत्मा के वीर्य, दान, लाभ, भोग और उप-भोग रूप शक्तियों का घात करता है उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। यह कर्म भण्डारी के समान है। जैसे–राजा की दान देने की आज्ञा होने पर भी भण्डारी के प्रतिकूल होने से याचक को खाली हाथ लौटना पड़ता है। राजा की इच्छा को भण्डारी सफल नहीं होने देता। इसी तरह जीव राजा है। दान देने आदि की उसकी इच्छा है परन्तु भण्डारी सरीखा यह अन्तराय कर्म जीव को इच्छा को सफल नहीं होने देता। अन्तराय कर्म की पांच प्रकृतियां हैं और पांचों पाप रूप हैं।

(१) दानान्तराय–दान की सामग्री तैयार हो, गुणवान् पात्र आया हुआ है, दाता दान का फल भी जानता है। इस पर भी जिस कर्म के उदय से जीव दान नहीं कर सकता उसे दानान्तराय कर्म कहते हैं।

(२) लाभान्तराय–योग्य सामग्री के रहते हुए भी जिस कर्म के उदय से अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती वह लाभान्तराय कर्म हैं। जैसे–दाता के उदार होते हुए, दान की सामग्री विद्यमान रहते हुए तथा मांगने की कला में कुशल होते हुए भी कोई याचक दान नहीं पाता वह लाभा-न्तराय कर्म का फल समझना चाहिये।

(३) भोगान्तराय—त्याग प्रत्याख्यान के न होते हुए तथा भोगने की इच्छा रहते हुए भी जिस कर्म के उदय से जीव विद्यमान स्वाधीन भोग सामग्री का कृपणता वश भोग न कर सके वह भोगान्तराय कर्म है।

जो चीज एक वार भोगने में आवे वह भोग्य वस्तु है। जसे—पुष्प, फल, अन्न आदि।

(४) उपभोगान्तराय—जिस कर्म के उदय से जीव, त्याग-प्रत्याख्यान न होते हुए तथा उपभोग की इच्छा होते हुए भी विद्यमान स्वाधीन उपभोग सामग्री का कृपणतावश उपभोग न कर सके वह उपभोगान्तराय कर्म है।

जो चीज वार वार भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं। जैसे वस्त्र, आभूषण आदि।

(४) वीर्यान्तर—शरीर नीरोग हो, तरुण अवस्था हो, बलवान् हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव अपनी शक्ति का विकास न कर सके वह वीर्यान्तर कर्म है।

वीर्यान्तर कर्म के तीन भेद हैं—

वाल वीर्यान्तराय, पण्डित वीर्यान्तराय और वाल-पण्डित वीर्यान्तराय।

समर्थ होते हुए और चाहते हुए भी जिसके उदय से जीव सांसारिक कार्य न कर सके वह वालवीर्यान्तराय कर्म है।

सम्यग् दृष्टि साधु मोक्ष की चाह रखता हुआ भी जिस

कर्म के उदय से जीव मोक्ष प्राप्ति योग्य क्रियाएं न कर सके वह पण्डित वीर्यान्तराय कर्म है।

देश विरति रूप चारित्र को चाहता हुआ भी जिस कर्म के उदय से जीव श्रावक धर्म का पालन न कर सके वह बालपण्डित वीर्यान्तराय कर्म है।

उपरोक्त सब प्रकृतियों को मिलाने से ८२ होती हैं। वे ८२ प्रकृतियां पाप प्रकृतियां हैं। इन ८२ प्रकृतियों के द्वारा पाप कर्म भोगा जाता है।

*

आश्रवतत्व

प्र० आश्रव किसे कहते हैं ?

उ० जिनके द्वारा जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल आता रहता है उनको आश्रव कहते हैं। जैसे अनेक छिद्रों वाली एक नौका है, उसमें उन छिद्रों द्वारा निरन्तर पानी आ रहा है, उसमें क्रमशः भर कर वह नौका पानी में नीचे डूब जाती है। उसी तरह यह शरीरधारी जीव एक नौका रूप है। इसमें कर्म रूपी जल आने के लिए इन्द्रियों आदि छिद्र है। उनसे यदि अशुभ कर्म रूपी जल आत्मा रूपी नौका में भर गया तो वह आत्मा नीचे नरकादि गति में चली जाती है। यदि पूर्व पुण्यवश उन्हीं इन्द्रियादि छिद्रों द्वारा शुभ कर्म का प्रवेश हो गया तो वह परम्परा से मोक्ष का कारण बन सकता है परन्तु सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान में तो अशुभ आश्रव छुट जाता है। और शुभ आश्रव तेरहवें गुण-स्थान तक चालु रहता है।

अपेक्षा विशेष से आश्रव के कई प्रकार से भेद होते हैं। सामान्यतः आश्रव के दो भेद हैं-(प्रशस्त) शुभ आश्रव और अप्रशस्त (अशुभ) आश्रव। शुभ प्रवृत्तियों को प्रशस्त (शुभ) आश्रव कहते हैं और अशुभ प्रवृत्तियों को अप्रशस्त (अशुभ) आश्रव कहते हैं।

आश्रव के दूसरी तरह से दो भेद हैं—द्रव्य आश्रव

और भाव आश्रव। कर्मों के आने के जो मार्ग हैं उनको द्रव्याश्रव कहते हैं। जीवों के जो शुभ अशुभ परिणाम है उनको भावआश्रव कहते हैं।

आश्रव के पांच भेद हैं—

(१) मिथ्यात्व सेवे सो आश्रव है। मिथ्यात्व के पांच भेद हैं—

आभिग्रहिक मिथ्यात्व-तत्व की परीक्षा किये बिना ही पक्षपातपूर्वक एक सिद्धान्त का आग्रह करना और अन्य पक्ष का खण्डन करना आभिग्रहिक मिथ्यात्व है।

अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व-गुण दोष की परीक्षा किये विना ही सब पक्षों को बराबर समझना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है।

आभिनिवेशिक मिथ्यात्व-अपने पक्ष को असत्य मानते हुए भी उसकी स्थापना के लिए दुरभिनिवेश (दुराग्रह-हठ) करना आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है।

सांशयिक मिथ्यात्व-इस स्वरूप वाला देव होगा या अन्य स्वरूप वाला ? इसी तरह गुरु और धर्म के स्वरूप के विषय में सन्देहशील बने रहना सांशयिक मिथ्यात्व है।

अनाभोगिक मिथ्यात्व-विचार शून्य एकेन्द्रियादि तथा विशेष ज्ञान विकल जीवों को जो मिथ्यात्व होता है वह अनाभोगिक मिथ्यात्व कहा जाता है।

मोहवश तत्वार्थ में श्रद्धा न होना या विपरित श्रद्धा होना मिथ्यात्व है।

(२) अविरति–प्राणातिपात आदि पाप से निवृत्त न होना अविरति है।

(३) प्रमाद–शुभ कार्य में उद्यम न करना प्रमाद कहलाता है। अथवा–सम्यग्ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र रूप मोक्षमार्ग के प्रति उद्यम न करना प्रमाद कहलाता है।

(४) कषाय–जो शुद्ध स्वरूप वाली आत्मा को कलुषित करते हैं अर्थात् कर्ममल से मलीन करते हैं उन्हें कषाय कहते हैं।

अथवा

कष अर्थात् कर्म या संसार की प्राप्ति या वृद्धि जिस से हो वह कषाय है।

अथवा

कषाय मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला जीव का क्रोध मान माया लोभ रूप परिणाम कषाय कहलाता है।

(५) योग–मन वचन काया की*शुभाशुभ प्रवृत्ति को योग कहते हैं। अशुभ योग आश्रव है।

श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय स्पर्शनेन्द्रिय इन पांच इन्द्रियों को वश में रख कर शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श विषयों में स्वतन्त्र रखने से भी पांच आश्रव होते हैं।

---

*व्यवहार से शुभ योग को संवर माना गया है।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह ये भी पांच आश्रव हैं।

आश्रव के बीस भेद भी होते हैं।

(१) मिथ्यात्व का सेवन करना सो आश्रव।

(२) अव्रत–त्याग पच्चक्खाण नहीं करे सो आश्रव।

(३) प्रमाद–पांच प्रमाद सेवे सो आश्रव।

(४) कषाय–पच्चीस कषाय सेवे सो आश्रव।

(५) अशुभ योग–अशुभ योग प्रवर्तावे सो आश्रव।

(६) प्राणातिपात–जीवों की हिंसा करे सो आश्रव।

(७) मृषावाद–झूठ बोले सो आश्रव।

(८) अदत्तादान–चोरी करे सो आश्रव।

(९) मैथुन–कुशील सेवे सो आश्रव।

(१०) परिग्रह–धन कञ्चन आदि रखे सो आश्रव।

(११) श्रोत्रेन्द्रिय–वश में न रखे सो आश्रव।

(१२) चक्षुरिन्द्रिय–वश में न रखे सो आश्रव।

(१३) घ्राणेन्द्रिय–वश में न रखे सो आश्रव।

(१४) रसनेन्द्रिय–वश में न रखे सो आश्रव।

(१५) स्पर्शनेन्द्रिय–वश में न रखे सो आश्रव।

(१६) मन वश में न रखे सो आश्रव।

(१७) वचन वश में न रखे सो आश्रव।

(१८) काया वश में न रखे सो आश्रव।

(१९) भण्ड उपकरण अयतना से लेवे और अयतना से रखे सो आश्रव।

(२०) सूई कुशाग्र मात्र अयतना से लेवे और अयतना से रखे सो आश्रव।

आश्रव के ४२ भेद भी होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

५ पांच इन्द्रियों के विषय, ४ कषाय, ३ अशुभ योग, २५ क्रियाएं, ५ अव्रत (हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह) ये ४२ भेद भी होते हैं। *पचीस क्रियाओं के नाम इस प्रकार हैं-

(१) कायिकी—असावधानी पूर्वक काया (शरीर) की हलन चलन आदि से जो क्रिया लगती है, उसे कायिकी कहते हैं।

(२) आधिकरणिकी—जिस क्रिया से जीव नरक में जाने का अधिकारी बनता है उसे 'अधिकरण' कहते हैं। अथवा तलवार आदि उपघातक शस्त्रों को अधिकरण कहते हैं, उनको

---

*पचीस क्रिया की गाथाए—

काइय अहिगरणीया, पाउसिया परितावणी किरिया।
पाणाइवाई आरंभिया, परिग्गहिया मायावत्तिया ॥ १ ॥
मिच्छा दंसणवत्ती, अपच्चक्खाणी य दिट्ठिपुट्ठीय।
पाडुच्चिय सामंतोवणीय, नेसत्थी साहत्थी ॥ २ ॥
आणवणी वियारणिया, अणभोगा अणवकंखपच्चइया।
अण्णा पओग समुदाण, पिज्जदोसेरियावहिया ॥ ३ ॥

(नव तत्त्व में से)

बनाने और संग्रह करने की प्रवृत्ति को 'आधिकरणिकी' क्रिया कहते हैं।

(३) प्राद्वेषिकी–जीव या अजीव पर द्वेष करने से जो क्रिया लगती है उसे प्राद्वेषिकी क्रिया कहते हैं।

(४) पारितापनिकी–दूसरे जीवों को पीड़ा पहुंचाने से तथा अपने ही हाथ से अपने सिर छाती आदि को पीटने से जो क्रिया लगती है उसे 'पारितापनिकी' क्रिया कहते हैं।

(५) प्राणातिपातिकी–दूसरे प्राणियों के प्राणों का विनाश करने से तथा आत्मघात करने से जो क्रिया लगती है, उसे प्राणातिपातिकी क्रिया कहते हैं।

(६) आरम्भिकी–खेती, घर आदि के कार्य में हल कुदाल आदि चलाने से अनेक जीवों का विनाश होता है, उससे जो क्रिया लगती है उसे आरम्भिकी क्रिया कहते हैं।

(७) पारिग्रहिकी–दास दासी पशु आदि जीवों का संग्रह करने से तथा धन वस्त्र आभूषण घर आदि अजीव पदार्थों का संग्रह करने से एवं उस पर ममत्व करने से जो क्रिया लगती है उसे पारिग्रहिकी क्रिया कहते हैं।

(८) मायाप्रत्ययिकी–कूड़ा (झूठा) लेख आदि द्वारा दूसरों को ठगने से जो क्रिया लगती है उसे 'मायाप्रत्ययिकी' क्रिया कहते है।

(९) मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी–वीतराग भगवान् के वचनों से विपरित श्रद्धान को तथा अश्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं

उससे लगने वाली क्रिया को मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया कहते हैं।

(१०) अप्रत्याख्यानिकी—त्याग पच्चक्खाण न करने से जो क्रिया लगती है उसे अप्रत्याख्यानी क्रिया कहते हैं।

यह जीव भूतकालमें अनन्त भवों में अनन्त शरीर धारण कर चुका है। यदि मरते समय उस शरीर पर रहे हुए ममत्व का पच्चक्खाण (त्याग) नहीं करता है तो उस शरीर को हड्डी आदि किसी भी अवयव से जो क्रियाएं आगे होंगी वे सभी क्रियाएं उस जीव को लगेंगी। इसी प्रकार अपने पास रहे हुए जो तलवार चाकू आदि अस्त्र शस्त्र हैं, यदि मरते समय उनका पच्चक्खाण (त्याग) नहीं किया तो आगे उनसे होने वाली सभी क्रियाएं उस जीव को लगेंगी वह जीव चाहे जहां पर हो।

(११) दृष्टिकी—रागद्वेष से कलुषित चित्तपूर्वक किसी जीव या अजीव पदार्थ को देखने से जो क्रिया लगती है उसे 'दृष्टिकी' क्रिया कहते हैं।

(१२) स्पृष्टिकी—रागादि से कलुषित चित्तपूर्वक स्त्री आदि के अंगों का स्पर्शन करने से जो क्रिया लगती है उसे स्पृष्टिकी क्रिया कहते हैं। अथवा मलिन भावना से जो प्रश्न किया जाता है उसे स्पृष्टिकी क्रिया कहते हैं।

(१३) प्रातीत्यिकी (पाडुच्चिया)—दूसरों के वैभव (हाथी, घोड़े, आभूषण आदि) को देख कर राग द्वेष करने से जो

क्रिया लगती है उसे प्रातीत्यिकी क्रिया कहते हैं।

(१४) सामन्तोपनिपातिकी (सामंतोवणिया)-अपने वैभव की प्रशंसा सुन कर खुश होने से अथवा घी, तेल आदि के पात्र खुले रखने से उसमें संपातिम जीव गिर कर विनाश को प्राप्त होते है इससे जो क्रिया लगती है उसे सामन्तोपनिपातिकी क्रिया कहते हैं। अनेक प्रकार के जो नाटक सिनेमा आदि करते हैं, उन करने वालो को तथा देखने वालों को भी यह क्रिया लगती है।

(१५) नैशस्त्रिकी (नेसत्थिया)-राजा आदि की आज्ञा से यन्त्रों द्वारा कुंए, तालाव आदि से पानी निकाल कर बाहर फैंकने से, क्षेपणी (गोफण) आदि द्वारा पत्थर आदि फैंकने से, स्वार्थवश योग्य शिष्य को या पुत्र को बाहर निकाल देने से, शुद्ध एषणीय भिक्षा होने पर भी निष्कारण उसे परठा देने से (बाहर फेंक देने से) जो क्रिया लगती है उसे नैशस्त्रिकी या नैसृष्टिकी क्रिया कहते हैं।

(१६) स्वहस्तिकी (साहत्थिया)-हिरण, खरगोश आदि जानवरों को मारने से या मरवाने से, कीसी जीव को अपने हाथ आदि द्वारा ताड़न (पीटना) करने से जो क्रिया लगती है उसे स्वहस्तिकी क्रिया कहते हैं।

(१७) आज्ञापनिकी या आनायनी (आणवणिया)-जीव अथवा अजीव को आज्ञा देने से अथवा दूसरे के द्वारा मंगाने से

जो क्रिया लगती है उसको आज्ञापनिकी या आनायनी (आण-वणिया) क्रिया कहते हैं।

(१८) वैदारणिकी (वियारणिया)–जीव और अजीव पदार्थों को चीरने फाड़ने से अथवा खोटी वस्तु को असली-अच्छी बतलाने से जो क्रिया लगती है उसे वैदारणिकी (वियारणिया) क्रिया कहते हैं।

(१९) अनाभोगिकी (अणवभोग पच्चइया) बेपरवाही से चीजों को उठाने रखने से एवं अनुपयोगपूर्वक चलने फिरने से जो क्रिया लगती है उसे अनाभोगिकी क्रिया कहते हैं।

(२०) अनवकांक्षाप्रत्ययिकी (अणवकंखपच्चइया)–इस लोक और परलोक की परवाह न करते हुए दोनों लोक विरोधी हिंसा, झूठ आदि तथा आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान करने से लगने वाली क्रिया को अनवकांक्षाप्रत्ययिकी कहते हैं।

(२१) प्रायोगिकी–आर्त्तध्यान रौद्रध्यान करना, तीर्थङ्करों से निन्दित सावद्य (पाप जनक) वचन बोलना तथा प्रमाद-पूर्वक जाना आना, हाथ पैर आदि फैलाना संकोचना आदि से तथा मन वचन काया का व्यापार से लगने वाली क्रिया प्रायोगिकी क्रिया है।

(२२) सामुदायिकी (समुदाणिया)–किसी पाप कार्य के द्वारा समुदाय रूप में आठों कर्मों का बन्धन हो तथा सामुदिक रूप से अनेक जीवों को एक साथ कर्म बन्ध हो उसे सामुदायिकी क्रिया कहते हैं।

(२३) प्रेमप्रत्यया (पेज्जवत्तिया)-खुद प्रेम करने से तथा दूसरे को प्रेम उत्पन्न हो ऐसे माया तथा लोभपूर्वक व्यवहार करने से जो क्रिया लगती है उसे प्रेम प्रत्यया क्रिया कहते हैं।

(२४) द्वेष प्रत्यया-खुद क्रोध करने से अथवा दूसरे को क्रोध उत्पन्न कराने से या अभिमान करने से जो क्रिया लगती है उसे द्वेष प्रत्यया क्रिया कहते हैं।

(२५) ईर्यापथिकी (इरियावहिया)-उपशान्त मोह, क्षीणमोह और सयोगी केवली इन ग्यारहवें बारहवें और तेरहवें गुणस्थानों में रहे हुए अप्रमत्त साधु को सिर्फ योग के कारण से जो सातावेदनीय कर्म बन्धता है उसे इर्यापथिकी क्रिया कहते हैं। यह क्रिया पहले समय में बधती है, दूसरे समय में वेदी जाती है और तीसरे समय में उसकी निर्जरा हो जाती है।

आश्रव के भी ५७ भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं-५-मिथ्यात्व, १२ अव्रत, २५ कषाय और १५ योग।

पांच मिथ्यात्व ये हैं- आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक और अनाभोगिक। इन पांचो का अर्थ पहले बतलाया जा चुका है।

बारह अव्रत-पांच इन्द्रियों को वश में न रखने से तथा मन वश न रखने से और छह काया की दया अनु-

कृपा न करने से तथा व्रत पच्चक्खाण न करने से आश्रव होता है।

पच्चीस कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन के भेद से सोलह भेद होते हैं। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। ये नौ नोकषाय कहलाते हैं। इन सब का अर्थ पहले बतलाया जा चुका है।

योग पन्द्रह—मन, वचन, काया के व्यापार को योग कहते हैं। इनमें मन के चार वचन के चार और काया के सात इस प्रकार कुल पन्द्रह भेद हो जाते हैं।

सत्य मन योग—मन का जो व्यापार सत् अर्थात् सज्जन-पुरुषों या साधुओं के लिए हितकारी हो, उन्हें मोक्ष की ओर ले जाने वाला हो उसे सत्य मन योग कहते हैं। अथवा जीवादि पदार्थों के अनेकान्त रूप यथार्थ विचार को सत्य-मन योग कहते हैं।

(२) असत्य मन योग—सत्य से विपरीत अर्थात् संसार की ओर ले जाने वाले मन के व्यापार को असत्य मन योग कहते हैं अथवा 'जीवादि पदार्थ नहीं है, एकान्त सत् है, इत्यादि एकान्त रूप मिथ्या विचार को असत्य मन योग कहते हैं।

(३) सत्यमृषा (मिश्र) मन योग—व्यवहार नय से ठीक

होने पर भी जो विचार निश्चय नय से पूर्ण सत्य न हो उसे सत्य मृषा (मिश्र) मन योग कहते हैं। जैसे किसी वन में धव, खैर, पलाश आदि के कुछ पेड़ होने पर भी अशोक वृक्ष अधिक होने से उसे अशोक वन कहना। उस वन में अशोक वृक्षों के होने से यह बात सत्य है और धव आदि के वृक्ष होने से मृषा (असत्य) भी है।

(४) असत्यामृषा (व्यवहार) मन योग – जो विचार सत्य भी नहीं है और असत्य भी नहीं है उसे असत्यामृषा (व्यवहार) मन योग कहते हैं। जैसे किसी बात का विवाद खड़ा होने पर वितराग सर्वज्ञ के बताये हुए सिद्धान्त के अनुसार विचार करने वाला आराधक कहा जाता है, उसका विचार सत्य है। जो व्यक्ति वितराग सर्वज्ञ के सिद्धान्त के विपरीत विचार करता है, जीवादि पदार्थों को एकान्त नित्य आदि बताता है वह विराधक हैं। उसका विचार असत्य है। जहां वस्तु को सत्य या असत्य किसी प्रकार सिद्ध करने की इच्छा न हो किन्तु केवल वस्तु का स्वरूप मात्र दिखाया जाय, जैसे कि–देवदत्त! घड़ा लाओ। इत्यादि चिन्तन में वहां सत्य या असत्य कुछ नहीं होता, आराधक विराधक की कल्पना भी नहीं होती। इस प्रकार के विचार को असत्यामृषा मन योग कहते हैं। यह भी व्यवहार नय की अपेक्षा से है। निश्चय नय से तो इसका सत्य या असत्य में समावेश जाता है।

(५–६–७–८) ऊपर लिखे मन योग के अनुसार वचन-योग के भी चार भेद हैं–जैसे (५) सत्य वचनयोग, (६) असत्य वचनयोग, (७) सत्यमृषा वचनयोग, (८) असत्यामृषा वचनयोग।

काय योग के सात भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—

(९) औदारिक शरीर काय योग–काय का अर्थ है समूह। औदारिक शरीर पुद्गल स्कन्धों का समूह है, इसलिए काय है। इससे होने वाले व्यापार को औदारिक शरीर काय-योग कहते हैं। यह योग पर्याप्त तिर्यञ्च और मनुष्यों के ही होता है।

(१०) औदारिक मिश्र काय योग–वैक्रिय, आहारक और कार्मण के साथ मिले हुए औदारिक को औदारिक मिश्र कहते हैं। औदारिक मिश्र के व्यापार को औदारिक मिश्र शरीर काय योग कहते हैं।

(११) वैक्रिय शरीर काय योग–वैक्रिय शरीर पर्याप्ति के कारण पर्याप्त जीवों के होने वाला वैक्रिय शरीर का व्यापार वैक्रिय काय योग कहलाता है।

(१२)*वैक्रिय मिश्र शरीर काय योग–देव और नारकी जीवों के अपर्याप्त अवस्था में होने वाला काय योग वैक्रिय मिश्र शरीर काय योग है। यहां वैक्रिय और कार्मण की अपेक्षा मिश्र योग होता है।

---

*टीपणी अगले पृष्ठ पर है

(१३) आहारक शरीर काय योग—आहारक शरीर पर्याप्ति के द्वारा पर्याप्त जीवों के आहारक शरीर काय योग होता है।

(१४) आहारक मिश्र शरीर काय योग—जिस समय आहारक शरीर अपना कार्य करके वापिस आकर औदारिक शरीर में प्रवेश करता है उस समय आहारक मिश्र शरीर काय-योग होता है।

(१५) तैजस कार्मण शरीर काय योग—विग्रह गति में तथा सयोगी केवली को समुद्घात के तीसरे चौथे और पांचवे समय में तैजस कार्मण शरीर काय योग होता है। तैजस शरीर और कार्मण शरीर सदा एक साथ रहता है। इस लिए उनके व्यापार रूप काययोग को भी एक ही माना है।

(पन्नवणा सूत्र १६ वां पद)

*वैक्रिय मिश्र और आहारक मिश्र की व्याख्या टीका-कार उपर्युक्त रूप से करते हैं। मतान्तर में इसकी व्याख्या इस प्रकार भी है—जब वैक्रिय शरीर बनाया जाय तब वैक्रिय मिश्र और जब आहारक शरीर बनाया जाय तब आहारक मिश्र होता है। औदारिक में वापिस प्रवेश करते समय औदारिक मिश्र होता है।

---

* टिपणी अगले पृष्ट पर है।

संवर तत्व

प्र० संवर किसे कहते हैं ?

उ० आश्रव को रोके उसको संवर कहते हैं। जीव रूपी तालाव, कर्म रूपी पानी, आश्रव रूपी नालों से आते हुए कर्मों को संवर रूपी पाल द्वारा रोकना संवर कहलाता है।

संवर के दो भेद हैं—द्रव्य संवर और भाव संवर। आते हुए नवीन-कर्मों को रोकने वाले आत्मा के परिणाम को भाव-संवर कहते हैं और कर्म पुद्गल की रुकावट को द्रव्य संवर कहते हैं। इसके सामान्य रूप से बीस भेद होते हैं—

(१) समकित को धारण करना सो संवर है।

(२) व्रत पच्चक्खाण करे सो संवर है।

(३) प्रमाद नहीं करे सो संवर है।

(४) कषाय नहीं करे सो संवर है।

(५) शुभ योग प्रवर्तावे सो संवर है।

(६) प्राणातिपात—जीव की हिंसा नहीं करे सो संवर है।

(७) मृषावाद—झूठ नहीं बोले सो संवर है।

(८) अदत्तादान—चोरी नहीं करे सो संवर है।

(९) मैथुन—कुशील नहीं सेवे सो संवर है।

(१०) परिग्रह—ममता नहीं रखे सो संवर है।

(११-१५) श्रोत्रेंद्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय, इन पांच इन्द्रियों को वश करे सो संवर है।

(१६-१७-१८) मन, वचन, काया को वश करे सो संवर है।

(१९) भण्ड उपकरण यतना से लेवे, यतना से रखे सो संवर है।

(२०) सूई कुशाग्र मात्र यतना से लेवे, यतना से रखे सो संवर है।

संवर के ५७ भेद भी होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

५ समिति, ३ गुप्ति का पालन करना २२ परीषहों को जीतना, १० यति धर्म, १२ भावना और ५ चारित्र का पालन करना। ये संवर के ५७ भेद होते हैं। अब इनका प्रत्येक का अर्थ बतलाया जाता है।

प्र० समिति किसे कहते हैं?

उ० यतनापूर्वक आत्मा की सम्यक् प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। समिति के पांच भेद हैं—(१) ईर्या समिति (२) भाषा समिति (३) एषणा समिति (४) आदान भण्ड मात्र निक्षेपना समिति (५) उच्चार प्रस्रवण खेल सिंघाण जल्ल परिस्थापनिका समिति।

(१) ईर्या समिति--ज्ञान दर्शन चारित्र के निमित्त आगमोक्त काल में युगपरिमाण भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए यतनापूर्वक गमनागमन करना ईर्यासमिति है

(२) भाषासमिति–निर्दोष भाषा बोलना अर्थात् आवश्यकता होने पर सत्य, हित, मित और असंदिग्ध भाषा बोलना भाषा–समिति है।

(३) एषणा समिति–गवेषण, ग्रहण और ग्रास सम्बन्धी एषणा के दोषों से रहित आहार पानी आदि ग्रहण करना एषणा समिति है।

(४) आदानभण्ड मात्र निक्षेपणा समिति–आसन शय्या संस्तारक वस्त्र पात्र आदि उपकरणों को उपयोगपूर्वक देख कर और पूंज कर उठाना और रखना आदान भण्ड मात्र निक्षेपणा समिति है।

(५) उच्चार प्रस्रवण खेल सिंघाण जल्ल परिस्थापनिका समिति–स्थण्डिल के दोषों को वर्जते हुए परिठवने योग्य लघुनीत (मूत्र) बडीनीत (मल), थूक, कफ, नाक का मेल आदि को निर्जीव जगह में यतनापूर्वक परिठवना उच्चार प्रस्रवण खेल जल्ल परिस्थापनिका समिति कहते हैं। इसे परिस्थापनिका समिति भी कहते हैं।

प्र० गुप्ति किसे कहते हैं?

उ० मन वचन काया की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकना और शुभ प्रवृत्ति करना गुप्ति कहलाता है। गुप्ति के तीन भेद हैं–(१) मनगुप्ति, (२) वचनगुप्ति, (३) कायगुप्ति।

(१) मनगुप्ति–आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ सम्बन्धी संकल्प विकल्प न करना, परलोक में

हितकारी धर्मध्यान सम्बन्धी चिन्तवना करना, मध्यस्थ भाव रखना, शुभ, अशुभ योगों को रोक कर योग निरोध अवस्था में होनेवाली अन्तरात्मा की अवस्था को प्राप्त करना मनगुप्ति है।

(२) वचनगुप्ति—वचन के अशुभ व्यापार अर्थात् संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ सम्बन्धी वचन का त्याग करना, विकथा न करना, मौन रहना वचनगुप्ति है।

(३) कायगुप्ति—खड़ा होना, बैठना, उठना, सोना आदि कायिक प्रवृत्ति न करना, यतनापूर्वक काया की प्रवृत्ति करना एवं अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना कायगुप्ति है।

प्र० परीषह किसे कहते हैं ?

उ० 'मार्गाच्यवन निर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः'

अर्थात्—आपत्ति आने पर भी धर्म मार्ग में दृढ एवं स्थिर रहने के लिये एवं धर्म की रक्षा के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए शारीरिक और मानसिक कष्टों को समभावपूर्वक सहन करना परीषह है। परीषह बाईस हैं। उनमें से प्रज्ञापरीषह और सम्यक्त्व परीषह ये दो परीषह धर्म का त्याग नहीं करने के लिये हैं तथा शेष बीस परीषह कर्मों की निर्जरा के लिए हैं। परीषह* बाईस हैं वे इस प्रकार हैं।

---

*खुहा पिवासा सी उण्हं, दंसा चेलाइ इत्थिओ।
चरिया णिसीहिया सिज्जा, अक्कोस वह जायणा ॥ १ ॥
अलाभ रोग तणफासा, मलसक्कार परीसहा।
पण्णा अण्णाण सम्मत्तं, इय बावीस परीसहा ॥ २ ॥

(१) क्षुधा परीषह—भूख का परीषह साधु की मर्यादानुसार एषणीय आहार जब तक न मिले तब तक ग्रहण न करना, भूख सहन करना क्षुधा परीषह है।

(२) पिपासा परीषह—जब तक निर्दोष अचित्त जल न मिले तब तक प्यास को सहन करना पिपासा परीषह है।

(३) शीत परीषह—ठण्ड का परीषह—कितनी भी कड़ी ठण्ड क्यों न पड़ती हो तो भी अपने पास मर्यादित और परिमित वस्त्र हों उन्हीं से अपना निर्वाह करना, अकल्पनीय वस्त्र की तथा अग्निकाय का आरम्भ करने कराने की मन से भी इच्छा न करना किन्तु समभावपूर्वक शीत को सहन करना 'शीत परीषह' कहलाता है।

(४) उष्ण परीषह—गर्मी का परीषह—अत्यन्त गर्मी पडती हो तो भी स्नान की इच्छा न करना, छाता धारण न करना, पंखे से एवं वस्त्रादि से हवा न करना, गर्मी को समभावपूर्वक सहन करना उष्ण परीषह है।

(५) दंशमशक परीषह—डांस, मच्छर, खटमल आदि के काटने पर जो वेदना होती है उसे समभावपूर्वक सहन करना, वेदना के भय से उस स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थानपर जाने की इच्छा न करना, उनको भगाने के लिए धूंए आदि का प्रयोग न करना, न कराना; दंश मशक परीषह है।

(६) अचेल परीषह—आगमोक्त साधु की मर्यादानुसार जितने वस्त्र रखने की आज्ञा है उतने ही वस्त्र रखना, बहुमूल्य

वस्त्र न रखना, जो कुछ साधारण या पुराने वस्त्र हों उनमें सन्तोष करना 'अचेल परीषह' है।

(७) अरति परीषह—मन में अरति अर्थात् उदासी से होने वाला कष्ट। स्वीकृत संयममार्ग में कठिनाइयां आने पर उसमें मन न लगे और उसके प्रति अरति उत्पन्न हो तो धैर्यपूर्वक उस में मन लगाते हुए अरति को दूर करना 'अरति परीषह' है।

(८) स्त्री परीषह—स्त्रियों के अंग, उपाङ्ग, आकृति, हास्य, कटाक्ष आदि के ऊपर ध्यान न देना, विकार दृष्टि से उनकी तरफ न देखना, ब्रह्मचर्य में दृढ रहना, यह ×स्त्री परीषह है। (यह परीषह अनुकूल परीषह है)।

(९) चर्या परीषह—बहता हुआ जल और विहार करता हुआ साधु स्वच्छ एवं निर्मल रहते हैं। इस लिए साधु को विशेष कारण के बिना किसी एक जगह पर मर्यादा से अधिक नहीं ठहरना चाहिए। धर्म का उपदेश देते हुए उसे अप्रतिबद्ध विहार करना चाहिए। विहार के परिश्रम को एवं विहार में होनेवाले कष्ट को 'चर्या परीषह कहते हैं। इसे समभाव से सहन करना चाहिये।

(१०) निषद्या परीषह—श्मशान, शून्य घर, सिंह की

×इसी तरह स्त्रियों के लिए 'पुरुष परीषह' समझना चाहिये।

गुफा आदि स्थानों में ध्यान करने के समय विविध उपसर्ग होने पर तथा स्त्रीपशुपंडक रहित स्थान में कामलोलुप स्त्रियों का अनुकूल उपसर्ग होने पर एवं हिंसक प्राणियों का प्रतिकूल उपसर्ग होने पर उसे समभावपूर्वक सहन करना किन्तु निषिद्ध चेष्टा न करना निषद्या (नैषेधिकी) परिषह है।

(११) शय्या परीषह—सोने के लिये ऊंची नीची कठोर आदि जमीन का योग मिलने से तथा बिछाने के लिए अल्प वस्त्र होने से निद में बाधा पहुंचती हो तो भी मन में उद्वेग न करना 'शय्या परीषह' है।

(१२) आक्रोश परीषह—कोई गाली दे या कटु वचन कहे तो उसको समभावपूर्वक सहन करना 'आक्रोश परीषह' है।

(१३) वध परीषह—कोई दुष्ट मारे, पीटे या जान से मार डाले तो भी उस पर क्रोध न करते हुए उस कष्ट को सम-भावपूर्वक सहन करना 'वध परीषह' है।

(१४) याचना परीषह—गृहस्थ के द्वारा सामने लाया हुआ आहार पानी वस्त्र पात्रादि न लेते हुए स्वयं भिक्षा मांग कर संयम यात्रा का निर्वाह करना, मांगने में कोई अपमान करे तो बुरा न मानना और भिक्षा मांगने में लज्जा न करना 'याचना परीषह' है।

(१५) अलाभ परीषह—आगमोक्त मर्यादानुसार गोचरी के लिए जाने पर निर्दोष आहार न मिले तथा जिस वस्तु की आवश्यकता है वह दाता के पास मौजूद होते हुए भी वह न

दे तो अपने लाभान्तराय कर्म का उदय समझ कर समभाव-पूर्वक सहन करना 'अलाभ परीषह' है।

(१६) रोग परीषह–शरीर में किसी प्रकार का रोग-व्याधि होने पर जिनकल्पी साधु को चिकित्सा कराना नहीं कल्पता है और स्थविरकल्पी साधु को शास्त्रोक्त विधि से निर-वद्य चिकित्सा कराना कल्पता है। रोगादि आने पर आर्त्त-ध्यान न करे। अपने किये हुए कर्मों का फल समझ कर वेदना को समभावपूर्वक सहन करना 'रोग परीषह' है।

(१७) तृणस्पर्श परीषह–रोगपीडित अवस्था में या वृद्धा-वस्था में तथा तपश्चर्या आदि कारण विशेष से दर्भ (डाभ) आदि तृणों का बिछौना लगा कर साधु को सोना पड़े और कठोर तृणों के स्पर्श से वेदना होवे या खाज आदि चले तो उससे उद्विग्न चित्त न हो किन्तु उसे समभावपूर्वक सहन करना तृणस्पर्श परीषह है। अथवा–बिछाने के लिए कुछ न होने पर तिनकों पर सोते समय पैर में तृण आदि के चुभ जाने से होनेवाले कष्ट को समभावपूर्वक सहन करना 'तृणस्पर्श परीषह' है।

(१८) जल्ल परीषह–(मलपरीषह)–शरीर और वस्त्र आदि में चाहे जितना मैल संचित हो जाय तो मन में खेदित न होना तथा स्नान की इच्छा न करना जल्ल परीषह (मलपरीषह) है।

(१९) सत्कार पुरस्कार परीषह–लोकसमुदाय द्वारा तथा

राजा महाराजाओं की ओर से स्तुति नमस्कार एवं आदर-सत्कार होने पर अपने मन में अभिमान न लाना और आदर-सत्कार न पाने से मन में खेदित न होना, यह 'सत्कार पुरस्कार परीषह' है। (यह अनुकूल परीषह है)

(२०) प्रज्ञा परीषह—प्रखर विद्वत्ता होने पर भी अभिमान न करना तथा अल्प ज्ञान होने पर भी शोक न करना किन्तु ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा रखना 'प्रज्ञा परीषह' है।

(२१) अज्ञान परीषह—बहुत परिश्रम करने पर भी ज्ञान न चढे अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति न हो तो भी अपनी आत्मा को धिक्कार न देना किन्तु ज्ञानावरणीय कर्म का उदय समझ कर अपने चित्त को शान्त रखना 'अज्ञान परीषह' है।

(२२) सम्यक्त्व परीषह—अनेक कष्ट, उपसर्ग आने पर भी जिनेश्वरभाषित धर्म से विचलित न होना, शास्त्रीय सूक्ष्म अर्थ समझमें न आवे तो उदासीन होकर विपरीत भाव न लाना तथा अन्य मतावलम्बियों के चमत्कार एव आडम्बर देख कर मोहित न होना 'सम्यक्त्व परीषह' है।

अब श्रमणधर्म का वर्णन किया जाता है—

श्रमण नाम साधु का है। साधु के धर्म को (चारित्र) को श्रमण धर्म कहते हैं। यद्यपि इसका नाम श्रमण (साधु)-धर्म है तथापि श्रावक भी देशविरति रूप चारित्रधर्म का पालन करता है। अतः श्रावक के लिए एवं सभी के लिए यह दश-

विध धर्म आचरणीय एवं जानने योग्य हैं। श्रमण धर्म को ही यतिधर्म कहते हैं।

श्रमणधर्म के *दस भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) क्षमा–क्रोध पर विजय प्राप्त करना। क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी शान्ति रखना क्षमा है।

(२) मार्दव–मान का त्याग करना। जाति, कुल, रूप, ऐश्वय, तप, ज्ञान लाभ और बल इन आठों में से किसी का मद न करना 'मादव' है।

(३) आर्जव–कपट रहित होना। माया दम्भ ठगी आदि का सर्वथा त्याग करना, सरल होना आर्जव कहलाता है।

(४) मुक्ति–लोभ पर विजय प्राप्त करना पौद्गलिक, वस्तुओं पर आसक्ति न रखना मुक्ति कहलाता है।

(५) तप–'इच्छा निरोधस्तपः' इच्छा को रोकना और कष्ट को सहन करना तप है।

(६) संयम–मन वचन काया की प्रवृत्तिपर अंकुश रखना, उनकी अशुभ प्रवृत्ति न होने देना। पांचों इन्द्रियों का दमन, चारों कषायों पर विजय, प्राणातिपात आदि पांच पापों से निवृत्त होना। इस प्रकार संयम ९७ प्रकार का है।

---

* गाथा इस प्रकार है–

खंती मद्दव अज्जव, मुत्ती तव संजमे य बोधव्वे।
सच्चं सोअं अकिंचणं च, बंभं च जइधम्मो ॥ १ ॥

(७) सत्य–सब जीवों के लिए सुखकारी, हित, मित सत्य निर्दोष वचन बोलना सत्य है।

(८) शौच–किसी भी प्राणी को कष्ट न हो ऐसा वर्ताव करना अर्थात् मन वचन काया के पवित्र व्यवहार को शौच कहते हैं।

(९) अकिंचनत्व–किसी वस्तु पर मूर्च्छा न रखना। परिग्रह का त्याग करना अकिञ्चनत्व कहलाता है।

(१०) ब्रह्मचर्य–नववाड़ सहित पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है।

अब आगे बारह भावनाओं का वर्णन किया जाता है–

इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग के समय आत्मा में दुःस्थिति पैदा न हो और सुसम्पन्न स्थिति में गर्व न हो, इस लिए चित्त को स्थिर करने के लिए जो विचार किया जाता है, उस विचार को 'भावना' कहते हैं।

'मनएव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'

अर्थात्–बन्ध और मोक्ष का कारण मनुष्यों का मन ही है।

'यादृसी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'

अर्थात्–जिसकी जैसी भावना होती है, उस को वैसी ही सिद्धि होती है। इत्यादि उक्तियों से जाना जा सकता है कि मानसिक क्रियाओं का प्राणी के जीवन पर कितना अधिक असर होता है। व्यक्ति के अच्छे और बुरे विचार उसे अच्छा और बुरा बना देते हैं। अत एव अपना उत्थान और विकास

चाहने वाले व्यक्ति को तदनुकूल विचार रखने चाहिये। मोक्षाभिलाषी आत्मा के लिए आवश्यक है कि वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि करने वाली बातों पर विचार करे, उन्हीं का चिन्तन मनन और ध्यान करे। उनके मार्ग प्रदर्शन के लिए शास्त्रकारों ने धर्मभावना बढाने वाली आध्यात्मिक भावनाओं का वर्णन किया है। मुमुक्षु की जीवन शुद्धि के लिए विशेष उपयोगी बारह विषयों को चुन कर शास्त्रकारों ने उनके चिन्तन और मनन का उपदेश दिया है।

भावना की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—संवेग, वैराग्य और भावशुद्धि के लिए आत्मा और जड़ तथा चेतन पदार्थों के संयोग वियोग पर गहरा उतर कर विचार करना। इस विचार का आत्मा पर गहरा संस्कार हो और धार्मिक अनुष्ठान की योग्य भूमिका तैयार हो। इसलिए मोक्षाभिलाषी आत्मा इसका बारबार चिन्तन करते हैं इसीलिए इसका नाम भावना रक्खा गया है। श्री उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्र में भावना को अनुप्रेक्षा के नाम से कहा है। अनुप्रेक्षा का अर्थ आत्मा का अवलोकन है।

भावनाएँ मुमुक्षु के जीवन पर कैसा असर करती हैं, यह बात भरत चक्रवर्ती, अनाथी मुनि, नमि राजर्षि आदि महापुरुषों के जीवन का अध्ययन करने से जानी जा सकती हैं। भावना ने उनके जीवन की दिशा को ही बदल दिया। उन्हें

बहिरात्मा से अन्तरात्मा बना दिया। चित्त शुद्धि के लिए एवं आध्यात्मिक विकास की ओर सन्मुख करने के लिए ये भावनाएं परम सहायक सिद्ध हुई हैं। भावनाएं*बारह हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) अनित्य भावना (२) अशरण भावना (३) ससार भावना (४) एकत्व भावना (५) अन्यत्व भावना (६) अशुचि भावना (७) आश्रव भावना (८) संवर भावना (९) निर्जरा भावना (१०) लोक भावना (११) बोधि दुर्लभ भावना (१२) धर्म भावना।

अब इन बारह भावनाओं का संक्षेप स्वरुप बताया जाता है—

(१) अनित्य भावना—संसार अनित्य है। यहां सभी वस्तुएं परिवर्तनशील एवं नश्वर हैं। कोई भी वस्तु शाश्वत दिखाई नहीं देती। जो पदार्थ सुबह दिखाई देते हैं, सन्ध्या समय उनके अस्तित्व का पता नहीं मिलता। प्रातःकाल जहां मंगल गान हो रहे थे शाम को वहीं रोना -पीटना सुनाई देता है। सुबह जिस व्यक्ति का राज्याभिषेक हो रहा था, शाम को

---

*भावनाओ के लिए गाथाएं ये हैं-

पढम मणिच्च मसरणं, संसारो एगया अण्णत्तं।
असुइत्त आसव संवरो य, तह णिज्जरा णवमी ॥ १ ॥
लोग सहावो बोही दुल्लहा, धम्मस्स साहगा अरिहा।
एयाओ भावणाओ, भावेयव्वा पयत्तेणं ॥ २ ॥

उसकी चिता का धुंआ दिखाई देता है। यह जीवन भङ्गुरता पद पद पर देखते हुए भी मानव अपने को अजर अमर समझता है और ऐसी प्रवृत्तियों करता है मानो उसे यहां से कभी जाना ही न हो। यह उसकी कितनी अज्ञानता है! यह शरीर रोगों का घर है, यौवन के साथ बुढापा जुड़ा हुआ है, ऐश्वर्य विनाशशील है और जीवन के साथ मृत्यु है। महात्मा पुरुष उन आत्माओं पर दया प्रकट करते हैं जिनका शरीर क्षीण होता जाता है परन्तु आशा तृष्णा बढ़ती जाती है। जिनका आयु बल घटता जाता है परन्तु पापबुद्धि बढ़ती जाती है। जिनमें प्रतिदिन मोह प्रबल होता जाता है परन्तु आत्मकल्याण की भावना जागृत नहीं होती। वस्तुतः संसार में कोई चीज ऐसी नहीं हैं जिस पर सदा के लिए विश्वास किया जा सके। यौवन जल के बुद्बुद् की तरह क्षणिक है, लक्ष्मी सन्ध्या के बादलों की तरह अस्थिर है। स्त्री परिवार आदि निमेष (आंख टमकारना) की तरह क्षण-स्थायी हैं। स्वामित्व स्वप्न तुल्य है। इस प्रकार धन, यौवन, कुटुम्ब, शरीर आदि संसार के सब पदार्थ अनित्य हैं। संयोग वियोग के लिए है। ऐसा विचार करना अनित्य भावना है। अनित्य भावना भरत चक्रवर्ती ने भाई थी।

(२) अशरण भावना—मानव आत्मरक्षा के लिए अपने शरीर को समर्थ और बलवान् बनाता है। माता, पिता, पुत्र, स्त्री आदि स्वजन और मित्रों से आपत्ति काल में सहायता की

आशा रखता है। सुखपूर्वक जीवन व्यतीत हो, इसलिए दुःख उठा कर धन का सञ्चय करता है। अपनी रक्षा के लिए कोई प्रयत्न बाकी नहीं रखता परंतु रोग और आतंक आने पर कोई भी उसको रक्षा नहीं कर सकते! जिस प्रकार जंगल में बलवान् सिंह के मुख में पडे हुए शशक (खरगोश) का कोई शरणभूत (रक्षक) नहीं है। उसी तरह जन्म, जरा, मरण, व्याधि, प्रिय वियोग, अप्रियसंयोग, दारिद्र्य, दौर्भाग्य आदि क्लेशों में पड़े हुए प्राणी का रक्षक वीतरागभाषित धर्म के सिवाय दूसरा कोई नहीं है। ऐसा चिन्तन करना अशरण भावना है। अशरण भावना अनाथी मुनि ने भाई थी। अनाथी मुनि का वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र के बीसवें अध्ययन में है। अनाथी मुनि ने मगध देश के अधिपति राजा श्रेणिक को अनाथता और सनाथता का स्वरूप बड़े ही मार्मिक शब्दों में समझाया है।

(३) संसार भावना—इस संसार में जीव अनादि काल से जन्म मरण आदि विविध दुःखों को सह रहा है। कर्मवश परिभ्रमण करते हुए उसने लोकाकाश के एक एक प्रदेश को अनन्ती अनन्ती वार व्याप्त किया परन्तु उनका अन्त न आया। नरक गति में जाकर इस जीव को वहां होने वाली स्वाभाविक शीत उष्ण वेदना सहन करनी पड़ती है। परमाधामी द्वारा दिये गये दुःख सहता है और परस्पर लड़ कर भी कष्ट उठाता है। भूख, प्यास, रोग, वध, बन्धन, ताड़न, भारारोपण

आदि तिर्यञ्च गति के दुःख प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। त्रिविध सुखों की सामग्री होते हुए भी देव शोक, भय, ईर्ष्या आदि दुःखों से दुःखित हैं। मनुष्यगति के दुःख तो यह मानव स्वयं अनुभव कर रहा है। गर्भ से लेकर जरा यावत् मृत्यु पर्यन्त मनुष्य दुःखी है। कोइ रोग पीड़ित है तो कोई धन जन के अभाव में चिन्तित है। कोई स्त्री पुत्रादि के विरह से संतप्त हैं तो कोई दारिद्र्य दुःख से दबा हुआ है। संसार में एक जगह भीषण युद्ध चल रहा है तो दूसरी जगह रोग फैले हुए हैं। एक जगह वृष्टि नहीं होने से त्राहि त्राहि मची हुई है तो दूसरी जगह अतिवृष्टि से हाहाकार मचा हुआ है। घर घर कलह का अखाडा हो रहा है। स्वार्थवश भाई भाई के खून का प्यासी बना हुआ है। माता पिता सन्तान को नहीं चाहते। पति पत्नी एक दूसरे के प्राणों के प्यासे हैं। इस तरह सारा संसार दुःख और द्वन्द्व से परिपूर्ण है, कहीं भो शान्ति दिखाइ नहीं देती, संसार में कोइ भी सर्वसुखी नहीं है। इस प्रकार अनादि काल से यह जीव नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव भवों में परिभ्रमण करता हुआ दुःख उठा रहा है। संसारके सभी जीव इसके स्वजन भी हैं और परजन भी हैं। वास्तविक स्वजन परजन इस आत्मा का कोइ नहीं है। जो आज माता है वह कभी भार्या, भगिनी, दुहिता (पुत्री) हो जाती है। पिता पुत्र हो जाता है और पुत्र पिता बन जाता है। इस तरह संसार की अवस्था का विचार करना संसार भावना है। संसार भावना

भगवान् मल्लिनाथ ने भाई थी। भगवान् मल्लिनाथ का वर्णन ज्ञातासूत्र के आठवें अध्ययन में है।

(४) एकत्व भावना—यह आत्मा अकेला उत्पन्न होता है और अकेला मरता है। कर्मों का संचय भी यह अकेला करता है और उन्हें भोगता भी अकेला ही है। स्वजन मित्र आदि कोई भी व्याधि जरा और मृत्यु से पैदा होने वाले दुःख दूर नहीं कर सकते। वस्तुतः स्वजन कोई भी नहीं है। मृत्यु के समय स्त्री विलाप करती हुई घर के कोने में बैठ जाती है, स्नेह और ममता की मूर्ति माता भी शव को घर के दरवाजे तक पहुंचा देती है। स्वजन और मित्र समुदाय श्मशान तक साथ आते हैं। शरीर भी चितामें आग लगने पर भस्म हो जाता है परन्तु साथ कोई नहीं जाता। मानव अपने प्रियजनों के लिए बड़े बड़े पापकार्य करता है। उनके सुख और आनन्द के लिए दूसरों पर अन्याय और अत्याचार करते हुए उसे जरा भी संकोच नहीं होता। पापकर्म जनित धन आदि सुख सामग्री को प्रिय जन आनन्द पूर्वक भोगते हैं और उसमें अपना हक समझते हैं, किन्तु पापकर्मों का फल भोगते समय उनमें से कोई भी साथ नहीं देता और पापकर्त्ता को अकेले ही उनका दुःखमय फल भोगना पड़ता है। जन्म और मृत्यु के समय आत्मा की एकता (अकेलापन) को प्रत्यक्ष देखते हुए भी जीव परवस्तुओं को अपनी समझता है यह देख कर ज्ञानीपुरुषों को बड़ा आश्चर्य होता है। सुख के साधनरूप पांच इन्द्रियों के विषयों

में ममत्व रखना, उनका संयोग होने पर हर्षित होना और वियोग होने पर दुःखी होना मोह की विडम्बना मात्र है। अतः यह जीव अकेला आया है, अकेला ही जायगा और अकेला ही सुख दुःख भोगेगा, कोई इसका साथी होने वाला नहीं है ऐसा निरन्तर विचार करना एकत्व भावना है। एकत्व भावना नमि राजर्पि ने भाई थी। नमिराजर्षि का वर्णन उत्तराध्ययन सूत्रके नववें अध्ययन में है।

(५) अन्यत्व भावना—मैं कौन हूं ! माता पिता आदि मेरे कौन हैं ? इनका सम्बन्ध मेरे साथ कैसे हुआ ? इसी तरह हाथी, घोड़े, महल, मकान, उद्यान, वाटिका तथा अन्य सुख ऐश्वर्य की सामग्री मुझे कैसे मिली ? इस प्रकार का चिन्तन इस भावना का विषय है। शरीर नाशवान् है, आत्मा शाश्वत है। शरीर पौद्गलिक है, आत्मा ज्ञान रूप है, शरीर मूर्त्त है, आत्मा अमूर्त्त है। शरीर इन्द्रियों का विषय है, आत्मा इन्द्रियातीत है, शरीर सादि है, आत्मा अनादि है। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध कर्म के वश हुआ है। इसलिए शरीर को आत्मा समझना भ्रान्ति है। रोगादि से शरीर के कृश होने पर शोक न करते हुए यह विचार करना चाहिये कि शरीर के कृश होने से यावत् नष्ट होने से आत्मा का कुछ नहीं बिगड़ता। आत्मा नित्य एवं ज्योति स्वरूप है। जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, भोग, ह्रास और वृद्धि आत्मा के नहीं होते। ये तो कर्म के परिणाम हैं। इसी प्रकार माता, पिता, सास, ससुर, स्त्री, पुत्र आदि भी आत्मा के

नहीं हैं। आत्मा भी इनका नहीं है। जिस प्रकार सन्ध्या समय पक्षी बसेरे के लिए वृक्ष पर आ मिलते हैं। और सुबह बिखर जाते हैं। इसी प्रकार स्वजनादि का संयोग भी अल्प काल के लिए होता है। प्रत्येक जन्म में इस आत्मा के साथ दूसरी अनेक आत्माओं का सम्बन्ध होता रहा है और उनसे यह आत्मा अलग भी होता रहा है। संयोग के साथ वियोग है। यह विचार कर स्वजन सम्बन्धियों में ममता न रखनी चाहिये। इसी प्रकार इस शरीर पर भी ममता न करनी चाहिये। यह अन्यत्व भावना है। यह अन्यत्व भावना मृगापुत्रजी ने भाई थी। मृगापुत्रजी का वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नीसवें अध्ययन में है।

(६) अशुचि भावना—यह शरीर रज और वीर्य जैसे घृणित पदार्थों के संयोग से बना है। माता के गर्भ में अशुचि पदार्थों के आहार के द्वारा इसकी वृद्धि हुई है। उत्तम, स्वादिष्ट और रसीले पदार्थों का आहार भी इस शरीर में जाकर अशुचि रूप से परिणत होता है। जिस प्रकार नमक की खान में गिरा हुआ पदार्थ नमक बन जाता है, इसी प्रकार जो भी पदार्थ इस शरीर के संयोग में आते हैं वे सब अशुचि—अपवित्र बन जाते हैं। आंख, नाक, कान आदि नव द्वारों से सदा मल झरता रहता है। जिस प्रकार साबुन से धोने पर भी कोयला अपना रंग नहीं छोडता, कपूर आदि सुगन्धित पदार्थों से वासित भी लहसुन अपनी दुर्गन्ध नहीं छोड़ता, इसी प्रकार इस शरीर को

पवित्र और निर्मल बनाने के लिए कितने ही साधनों का प्रयोग क्यों न किया जाय ? परन्तु यह अपने अशुचि स्वभाव का त्याग नहीं करता बल्कि निर्मल बनाने वाले साधनों को भी मलीन बना देता है। यदि शान्त और स्थिर बुद्धि से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि शरीर का प्रत्येक अवयव घृणाजनक है। यह रोगों का घर है। सुन्दर रुष्ट पुष्ट युवक-शरीर बुढापे में कैसा जर्जरित हो जाता है यह भी विचारणीय है। इस प्रकार इस शरीर की अशुचिता का विचार करना अशुचि भावना है। अशुचि भावना सनत्कुमार चक्रवर्ती ने भाई थी। सनत्कुमार चक्रवर्ती का वर्णन त्रिपष्टि-शलाका पुरुष चरित्र में है।

(७) आश्रव भावना—मन वचन काया के शुभाशुभ व्यापार द्वारा जीव जो शुभाशुभ कर्म ग्रहण करते हैं उसे आश्रव कहते हैं। जिस प्रकार चारों ओर से आते हुए नदी, नालों और झरनों द्वारा तालाब भर जाता है, इसी प्रकार आश्रव द्वारा आत्मा में कर्म रूपी जल आता है और इस कर्म से आत्मा मलीन हो जाता है। पांच अव्रत, पांच इन्द्रियो, चार कषाय, तीन योग और पचीस क्रिया इस प्रकार आश्रव के ४२ भेद बतलाये गये हैं। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह, इनसे जीव यहीं अनेक प्रकार के वध, बन्धन ताड़नादि दुःख पाते हैं। एक एक इन्द्रिय के विषय में आसक्त हुए प्राणी का भी प्राणान्त कष्ट भोगते देखे जाते हैं। स्पर्श-

इन्द्रिय के वश हुआ महान् शक्तिशाली दुर्दान्त हाथी अपनी अपनी स्वतन्त्रता खोकर मनुष्य के अधीन हो जाता है और अंकुश आदि की वेदना को सहता है। रसना इन्द्रिय के विषय में आसक्त मत्स्य (मच्छ) कांटे में फंस कर अपने प्राण खोता है। सुगन्ध में आसक्त बना हुआ भ्रमर सन्ध्या समय कमल में बन्द हो जाता है। रूप लोलुप पतंगियां दीपक पर गिर कर अपने प्राण देता है। शब्द विषयक राग वाला हिरण शिकारी का निशाना बन कर अकाल मृत्यु से मरता है। क्रोध मान माया लोभ रूप कषाय से दूषित प्राणी यहां पर अपना और पराई शान्ति का नाश करता है। न पर सुख से जीता है और न दूसरों को ही जीने देता है एवं कर्म बांध कर नरकादि दुर्गतियों में दुःख भोगता रहता है। यही बात योग और क्रिया विषयमें भी समझनी चाहिये। यद्यपि शुभ योग पुण्य बन्ध के हेतु हैं फिर भी वे जीव को संसार में रोकते ही हैं। सोने की जंजीर भी लोहे की जंजीर की तरह प्राणी की स्वतन्त्रता का अपहरण करती ही है। इस प्रकार आश्रव भावना का चिन्तन करने से जीव अव्रत आदि का कुपरिणाम समझ लेता है, और इनका त्याग कर व्रतों को ग्रहण करता है, इन्द्रिय और कषायो का दमन करता है योग का निरोध करता है और क्रियाओं से निवृत्त होने का प्रयत्न करता है। आश्रव भावना समुद्रपाल मुनि ने भाई थी। समुद्रपाल मुनि का वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र के ईक्कीसवें अध्ययन में है।

(८) संवर भावना–जिन से कर्मों का आना रूक जाता है वह संवर है। जिस प्रकार छिद्र वाली नाव में पानी आता है और पानी भर जाने पर उस में रहे हुए सभी प्राणी डूब जाते हैं। छिद्रों को रोक देने पर नाव में पानी आना रूक जाता है और यात्रा निर्विघ्न पूरी हो जाती है। इसी प्रकार संवर द्वारा नये कर्मों का आगमन रूक जाता है और आत्मा निर्विघ्न रूप से मुक्ति की ओर बढता रहता है एवं अन्त में अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता हैं। अतः आत्मविकास में संवर का स्थान बड़े महत्त्व का है। इस के लिए अनेक प्रवृत्तियों को रोकना पड़ता है और उसका उपाय संवर है। यदि संसार के प्रति उदासीनता हो, त्याग भाव के प्रति सच्ची प्रीति हो, आत्मविकास की सच्ची लगन हो तो उक्त क्रियाओं द्वारा सभी प्रकार के आश्रव पर विजय प्राप्त करना सहज है।

इस प्रकार संवर भावना का चिन्तन करने वाला आत्मा संवर क्रियाओं में रूचि रखने लगता है और संवर क्रियाओं का आचरण करता हुआ सिद्धिपद का अधिकारो होता है। संवर-भावना हरिकेशी मुनि ने भाइ थी। इन का वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र के बारहवे अध्ययन में है।

(९) निर्जरा भावना–संवर भावनाद्वारा जीव नवीन कर्मो के आगमन को रोकने वाली क्रियाओं का चिन्तन करता है परन्तु जो कर्म आत्मा के साथ लगे हुए हैं, उन्हें कैसे नष्ट जाय यह चिन्तन निर्जरा भावनाद्वारा किया जाता है।

संसार की हेतु भूत कर्मसन्तति का क्षय निर्जरा है। सकाम और अकाम के भेद से दो प्रकार की है। 'कर्मों का क्षय हो' इस विचार से तपद्वारा उनका क्षय करना सकाम निर्जरा है। तथा विना इच्छा एवं विना समझे भूख, प्यास आदि दुःखों को सहन करने से कर्मों का जो आंशिक क्षय होता है वह अकाम निर्जरा है।

निर्जरा के अनशन, ऊनोदरी आदि बारह भेद हैं। ये बारह नाम तप के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैसे अग्नि सोने के मैल को जला कर उसे निर्मल बना देती है। इसी प्रकार यह तप रूप अग्नि आत्मा के कर्ममल को नष्ट करके उसके शुद्ध स्वरूप को प्रकट कर देता है। पाप रूपी पहाड़ को चूर्ण करने के लिये यह वज्र रूप है और पाप रूपी सघन मेघश्रेणी को बिखेरने के लिए यह आंधी रूप है। इस तप का महाप्रभाव है। अर्जुन-माली और दृढ प्रहारो जैसे तीव्र कर्म वाले आत्माओं ने भी तप का आचरण कर पापपुञ्ज का नाश कर दिया और सिद्ध बुद्ध मुक्त हो गये। निर्जरा भावना का चिन्तन अर्जुन माली ने किया था। अर्जुन माली का वर्णन अन्तगड सूत्र में है।

(१०) लोक भावना-लोक के संस्थान का विचार करना लोक भावना है। कमर पर दोनों हाथों को रख कर और दोनों पैरों को फैला कर खडे हुए पुरुष की आकृति के समान यह लोक है। जिस में धर्मास्तिकाय आदि छहों द्रव्य भरे पड़े हैं। यह लोक किसी का बनाया हुआ नहीं हैं। इसका रक्षक और संहारक भी कोई नहीं है। यह अनादि और शाश्वत है। जीव

और अजीव से व्याप्त है। पर्याय की अपेक्षा इसमें वृद्धि और ह्रास देखे जाते हैं।

लोक का प्रमाण चौदह राजू है। इसके बीच में मेरु पर्वत है। लोक के तीन विभाग हैं—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक। मध्यलोक में प्रायः तिर्यञ्च और मनुष्य रहते हैं। अधोलोक में प्रायः नारकी जीव रहते हैं और ऊर्ध्व लोक में प्रायः देवता रहते हैं। लोक के अग्रभाग में सिद्धात्मा स्थित हैं। लोक का विस्तार मूल में सात राजू हैं फिर घटते घटते मध्य में एक राजू है और फिर बढते बढते ब्रह्म देवलोक में पांच राजू का विस्तर है और फिर घटते घटते ऊपर जाकर एक राजू का विस्तार रहा गया है। लोक में पृथ्वी घनोदधि पर स्थित है। घनोदधि घनवायु पर और घनवायु तनुवायु पर स्थित है। यह तनुवायु आकाश पर स्थित है। लोक के चारों ओर अनन्त आकाश है। लोक में नीचे से ज्यों ज्यों ऊपर आते हैं त्यों त्यों सुख बढता जाता है। ऊपर से नीचे की ओर अधिकाधिक दुःख है। ऊर्ध्व लोक में सर्वार्थसिद्ध के ऊपर सिद्ध शिला है। आत्मा का स्वभाव ऊपर की ओर जाना है परन्तु कर्मों से भारी होने के कारण जीव नीचे जाता है। इसलिए कर्मों से छुटकारा पाने के लिए धर्म का आचरण करना चाहिये।

इस प्रकार लोक भावना का चिन्तन करने से तत्त्वज्ञान की विशुद्धि होती है और मन अन्य बाह्य विषयों से हट कर

स्थिर हो जाता है। मानसिक स्थिरता द्वारा अनायास ही आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ति होती है। लोक भावना शिवराजर्षि ने भाई थी। शिवराजर्षि का वर्णन भगवती सूत्र के ग्यारहवें शतक के नवमें उद्देशे में है।

(११) बोधिदुर्लभ भावना—बोधि का अर्थ है ज्ञान। बोधि का अर्थ सम्यक्त्व भी किया जाता है। कहीं बोधि शब्द का अर्थ रत्नत्रय मिलता है। बोधि का अर्थ धर्मसामग्री की प्राप्ति भी किया जाता है। परन्तु यहां ज्ञान रूपी आन्तरिक प्रकाश की ही प्रधानता है। धर्म के साधनों का सत्य स्वरूप बतलाने की शक्ति भी इसी में है। बोधि को रत्न की उपमा दी जाती है। जैसे रत्न की विशेषता प्रकाश है, वैसे ही बोधि में भी ज्ञान की प्रधानता है। बोधि की प्राप्ति होना अति दुर्लभ है। उत्तराध्ययन के तीसरे अध्ययन में कहा है—

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥

अर्थात्—इस संसार में प्राणी को चार अङ्गों की प्राप्ति होना अत्यंत दुर्लभ है। मनुष्य जन्म, शास्त्र श्रवण, श्रद्धा और संयम में पराक्रम।

इसी तरह दसवें अध्ययन में भी कहा है—

लद्धूण वि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तणिसेवए जणे, समयं गोयम! मा पमायए॥

अर्थात्—उत्तम श्रवण (सत्संग अथवा सद्धर्म) भी मिल

जाना सम्भव है किन्तु उस पर यथार्थ श्रद्धा होना बहुत ही कठिन है क्यों कि संसार में मिथ्यात्व का सेवन करने वाले बहुत दिखाई देते हैं। इसलिए हे गौतम! तू एक समय का भी प्रमाद न कर।

इस प्रकार शास्त्रों में स्थान स्थान पर बोधि की दुर्लभता बताई गई है। बोधि को प्राप्त करने का उपयुक्त अवसर एक मनुष्य जन्म ही है और यही कारण है कि इसे पाने के लिए देवता भी लालायित रहते हैं। इसलिए इस जन्म में आर्य देश, उत्तम कुल, पूर्ण पांचों इन्द्रियों आदि दस बोल पाकर बोधि को प्राप्त करने का और उसकी रक्षा करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। अनेक जन्म के बाद महान् पुण्य के योग से ऐसा सुअवसर मिला है। इसका दुबारा मिलना सहज नहीं है। धर्म प्राप्ति में और भी अनेक विघ्न हैं। इसलिए जब तक शरीर नीरोग है, बुढापे से शरीर जीर्ण नहीं होता, इन्द्रियों अपने अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ है तब तक इसके लिए प्रयत्न कर मनुष्य जन्म को सार्थक करना चाहिये। मनुष्य जन्म और बोधि की दुर्लभता बताने का यही आशय है कि यह अवसर अमूल्य है। धर्मप्राप्ति योग्य अवसर पाकर प्रमाद करना ठीक वैसा ही है जैसे बड़ी भारी बरात लेकर विवाह के लिए गये हुए वर का ठीक विवाह का मुहूर्त आने पर नींद में सो जाना। श्री चिदानन्दजी महाराज कहते हैं—

'वार अनन्ती चूक्यो चेतन, इस अवसर मत चूक'

इस प्रकार की भावना करने से जीव रत्नत्रय रूप मोक्ष में अग्रसर बन कर धीरे धीरे अपनी लक्ष्य की ओर अग्रसर होता जाता है। बोधि दुर्लभ भावना भगवान् ऋषभदेव के ९८ पुत्रों ने भाई थी। इनका वर्णन सूयगडांग सूत्र के दूसरे अध्ययन के पहले उद्देशे में (टीका में) तथा त्रिपष्टि शलाका पुरुष चरित्र के प्रथम पर्व में है।

(१२) धर्म भावना-वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। क्षमा आदि दस विध धर्म को भी धर्म कहते हैं। जीवों की रक्षा करना धर्म है और सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्-चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म है। इसी तरह दान, शील, तप, भाव रूप भी धर्म कहा गया है। जिन भगवान् से कहा हुआ उक्त स्वरूप वाला धर्म सत्य है एवं प्राणियों के लिए परम हित-कारी है। रागद्वेष से रहित, स्वार्थ और ममता से दूर, पूर्ण-ज्ञानी, लोकत्रय का हित चाहने वाले जिन भगवान् से उप-दिष्ट धर्म के अन्यथा होने का कोई कारण नहीं है। धर्म चारों पुरुषार्थ में प्रधान है और सब का मूल कारण है। इस धर्म की महिमा अपार है। चिन्तामणि, कामधेनु और कल्पवृक्ष इस धर्म के सेवक है। यह धर्म अपने भक्त को क्या नहीं देता? उसके लिए संसार में सभी सुलभ है। धर्मात्मा पुरुष को देवता भी नमस्कार करते हैं। दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन में कहा है-

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं णमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

अर्थ–अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म उत्कृष्ट मङ्गल है। जिसका चित्त धर्म में सदा लगा हुआ रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

यह धर्म, बन्धु रहित का बन्धु है। विना मित्र वाले का मित्र है। रोगियों के लिए औषध है। धनाभाव से दुःखी पुरुषों के लिए धन है। अनाथों का नाथ है और अशरण का शरण है।

इस प्रकार धर्म की भावना से यह आत्मा धर्म से च्युत नहीं होता और धर्मानुष्ठान में तत्पर रहता है। धर्मभावना धर्मरूचि अनगार ने भाई थी। धर्म रूचि अनगार का वर्णन ज्ञाता सूत्र के सोलहवें अध्ययन में हैं।

जो प्राणी एकान्त में बैठकर मन, वचन, काया की शुद्धि पूर्वक तथा भक्ति के साथ सदा वार वार इन भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित करता है उसको उग्र कषाय दोषों का समुह नष्ट हो जाता है, आधि और उपाधि शान्त हो जाती है। उसका दुःख विलोप हो जाता है और शाश्वत ज्ञान–प्रदीप प्रकाश करता रहता है।

सूयगडांग सूत्र के पन्द्रहवें अध्ययन में कहा है—

भावना जोग सुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
णावा व तीर संपण्णा, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥

अर्थ—भावनाओं से जिसका आत्मा सुवासित हो गया है वह पुरुष जल में नाव के समान कहा गया है। जैसे तीर भूमि को पाकर नाव विश्राम करती है इसी तरह वह पुरुष सब दुःखों से छूट जाता है एवं सब दुःखों के अभाव रूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

इन बारह भावनाओं पर कविवर भूधरदासजी ने जो भावपूर्ण दोहे बनाये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) अनित्य भावना

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सब को एक दिन, अपनी अपनी बार ॥१॥

(२) अशरण भावना

दल बल देवी देवता, मात पिता परिवार।
मरती बिरियां जीव को, कोई न राखणहार ॥२॥

(३) संसार भावना

दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णा वश धनवान।
कहूं न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान ॥३॥

(४) एकत्व भावना

आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय।
यों कबहूं या जीव को, साथी सगा न कोय ॥४॥

(५) अन्यत्व भावना

जहां देह अपनी नहीं, तहां न अपना कोय।
घर संपत्ति पर प्रकट ये, पर हैं परिजन लोय ॥५॥

(६) अशुचि भावना

दिपे चाम चादर मढी, हाड पींजरा देह।
भीतर या सम जगत में, और नहीं घिन गेह ॥६॥

(७) आश्रव भावना

जगवासी घूमें सदा, मोह नींद के जोर।
सब लूटे नहीं दीसता, कर्मचोर चहुं ओर ॥७॥

(८) संवर भावना

मोह नींद जब उपशमै, सतगुरु देय जगाय।
कर्म चोर आवत रुकें, तब कछु बने उपाय ॥८॥

(९) निर्जरा भावना

ज्ञान दीप तप तेल, घर शोधे भ्रम छोर।
या विधि बिन निकसै नहीं, पैठे पूरब चोर ॥९॥
पंच महाव्रत संचरण, समिति पंच प्रकार।
प्रबल पंच इन्द्रिय विजय, धार निर्जरा सार ॥१०॥

(१०) लोक भावना

चौदह राजु उतंग नभ, लोक पुरुष संठान।
तामें जीव अनादि से, भरमत है बिन ज्ञान ॥११॥

(११) बोधि दुर्लभ भावना

धन जन कंचन राज सुख, सबहि सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक यथारथ ज्ञान ॥१२॥

(१२) धर्म भावना

जाचे सुरतरु देय सुख, चिन्तित चिन्ता रैन।
बिन जाचे बिन चिन्तये, धर्म सकल सुख दैन ॥१३॥

भावनाओं का विस्तृत वर्णन किया जा सकता है किन्तु यहां संक्षेप में वर्णन किया गया है।

अब चारित्र का वर्णन किया जाता है—

प्र० चारित्र किसे कहते हैं?

उ० चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम और क्षयोपशम से होने वाले विरति परिणाम को चारित्र कहते हैं।

अन्य जन्म में ग्रहण किये हुए कर्म संचय को दूर करने के लिए मोक्षाभिलाषी आत्मा का सर्वसावद्य योग से निवृत्त होना चारित्र कहलाता है।

अथवा

'चयरित्त करं चारित्तं होइ'

अर्थ—जो आठ कर्मों को चरे अर्थात् नष्ट करे उसे चारित्र कहते हैं। चारित्र के पांच भेद हैं। *वे इस प्रकार हैं।

(१) सामायिक चारित्र।

(२) छेदोपस्थापनीय चारित्र।

(३) परिहार विशुद्ध चारित्र।

---

* इन गाथाओं में पांच चारित्र के नाम दिये गये हैं—

सामाइयत्थ पढमं, छेओवट्ठावणं भवे बीअं।
परिहार विसुद्धिअं, सुहुमं तह संपरायं च ॥ १ ॥
तत्तो य अहक्खायं, खयं सव्वम्मि जीवलोगम्मि।
जं चरिऊण सुविहिया, वच्चंतयरामरं ठाणं ॥ २ ॥

(नव तत्त्व में से)

(४) सूक्ष्म सम्पराय चारित्र।

(५) यथाख्यात चारित्र।

अब इन पांच चारित्रों का अर्थ वतलाया जाता है-

(१) सामायिक चारित्र-सम अर्थात् राग द्वेष रहित आत्मा के प्रतिक्षण अपूर्व निर्जरा से होने वाली आत्म-विशुद्धि का प्राप्त होना सामायिक है।

भवाटवी के भ्रमण से पैदा होने वाले क्लेश को प्रति-क्षण नाश करनेवाली चिन्तामणि, कामधेनु एवं कल्पवृक्ष के सुखों का भी तिरस्कार करने वाली, निरुपम सुख देने वाली, ऐसी ज्ञान दर्शन चारित्र पर्यायों को प्राप्त कराने वाले, राग द्वेष रहित आत्मा के क्रियानुष्ठान को सामायिक चारित्र कहते हैं।

सर्व सावद्य व्यापार का त्याग करना एवं निरवद्य व्यापार का सेवन करना सामायिक चारित्र है।

यों तो चारित्र के सभी भेद सावद्य योगविरति रूप है। इसलिए सामान्यतः सभी सामायिक ही हैं किन्तु चारित्र के दूसरे भेदों के साथ 'छेद' आदि विशेषण होने से उनका नाम और अर्थ भिन्न भिन्न बताया गया है। पहले चारित्र के साथ छेद आदि विशेषण न होने से इसका नाम सामान्य रूप से सामयिक ही दिया गया है।

सामायिक चारित्र के दो भेद हैं, इत्वर कालिक सामायिक यावत्कथिक सामायिक।

(१) इत्वर कालिक सामायिक–इत्वर काल का अर्थ है–अल्प काल (थोड़ा समय)। अर्थात् भविष्य में दूसरी बार फिर सामायिक व्रत का व्यपदेश होने से जो अल्प काल को सामायिक हो, उसे इत्वर कालिक सामायिक कहते हैं। पहले और छेल्ले (अन्तिम) तीर्थङ्कर भगवान् के तीर्थ में जबतक शिष्य में महाव्रत का आरोपण नहीं किया जाता तब तक उस शिष्य के इत्वर कालिक सामायिक समझना चाहिये।

(२) यावत्कथिक सामायिक–यावज्जीवन की सामायिक यावत्कथिक सामायिक कहलाती है। बीच के बाईस तीर्थ-ङ्कर भगवान् (पहले और छेल्ले तीर्थङ्कर भगवान् के सिवाय) के साधुओं के एवं महाविदेह क्षेत्र के तीर्थङ्कर भग-वन्तों के साधुओं के यावत्कथिक सामायिक होती है क्यों कि इन तीर्थङ्करों के शिष्यों को दूसरी वार सामायिक व्रत नहीं दिया जाता है।

(२) छेदोपस्थानीय चारित्र–जिस चारित्र में पूर्व पर्याय का छेद एवं महाव्रतों में उपस्थान (आरोपण) होता है उसे छेदोपस्थापनीय (छेदोपस्थानिक) चारित्र कहते हैं।

अथवा–पूर्व पर्याय का छेद करके जो महाव्रत दिये जाते हैं उसे छेदोपस्थानीय चारित्र कहते हैं। यह चारित्र भरत ऐरावत क्षेत्र के प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के तीर्थ में ही होता है, शेष तीर्थङ्करों के तीर्थ में नहीं होता।

छेदोपस्थापनीय चारित्र के दो भेद हैं-निरतिचार छेदोपस्थानीय और सातिचार छेदोपस्थानीय।

निरतिचार छेदोपस्थापनीय-इत्वर सामायिक वाले शिष्य के एवं तीर्थङ्कर के तीर्थ से दूसरे तीर्थङ्कर के तीर्थ में जाने वाले साधुओं के जो व्रतों का आरोहण होता है वह निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र है। इसे बड़ी दीक्षा कहते हैं। यह सात दिन बाद, चार महिने बाद और उत्कृष्ट छह महीने बाद दी जाती है।

सातिचार छेदोपस्थापनीय-मूलगुणों का घात करने वाले साधु के जो व्रतों का आरोपण होता है वह सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र है।

(३) परिहार विशुद्धि चारित्र-जिस चारित्र में परिहार तप विशेष से कर्मनिर्जरा रूप शुद्धि होती है उसे परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं।

अथवा

जिस चारित्र में अनेषणीयादि का परित्याग विशेष रूप से होता है उसे परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं।

स्वयं तीर्थङ्कर भगवान् के समीप अथवा तीर्थङ्कर भगवान् के समीप रहकर पहले जिसने परिहार विशुद्धि चारित्र अङ्गीकार किया है उस साधु के पास यह चारित्र अङ्गीकार किया जाता है। नव साधुओं का गण परिहार तप [illegible] करता है। इनमें चार साधु पहले तप अङ्गीकार करते

हैं जो पारिहारिक कहलाते हैं। चार साधु वैयावच्च करते हैं। जो आनुपारिहारिक कहलाते हैं और एक कल्प स्थित और गुरु रूप में रहता है जिसके पास पारिहारिक (तप करने वाले) और आनुपारिहारिक (वैयावच्च करने वाले) साधु आलोचना, वन्दना, प्रत्याख्यान (पच्चक्खाण) आदि करते हैं। पारिहारिक साधु ग्रीष्म ऋतु में जघन्य एक उपवास, मध्यम बेला (दो उपवास) और उत्कृष्ट तेला (तीन उपवास) तप करते हैं। शिशिर काल (शीत काल) में जघन्य बेला मध्यम तेला और उत्कृष्ट चोला (चार उपवास) करते हैं। वर्षा काल में जघन्य तेला, मध्यम चोला और उत्कृष्ट पचोला (पांच उपवास) तप करते हैं। शेष चार आनुपारिहारिक और एक कल्पस्थित ये पांच साधु प्रायः नित्य भोजन करते हैं । ये उपवास आदि नहीं करते। आयम्बिल के सिवाय ये और भोजन नहीं करते अर्थात् सदा आयम्बिल ही करते हैं। इस प्रकार पारिहारिक साधु छह मास तक तप करते हैं। छह मास तप कर लेने के बाद वे आनुपारिहारिक अर्थात् वैयावच्च करने वाले हो जाते हैं। और आनुपारिहारिक (वैयावच्च करने वाले) साधु पारिहारिक बन जाते हैं अर्थात् तप करने लग जाते हैं। यह क्रम भी छह मास तक पूर्ववत् चलता हैं । इस प्रकार आठ साधुओं के तप करलेने पर उनमें से एक को गुरु पद पर स्थित किया जाता है और शेष सात वैयावच्च करते हैं तथा गुरु पद पर रहा हुआ

साधु तप करना शुरु करता है। यह क्रम भी छह मास तक चलता है। इस प्रकार अठारह मास में यह परिहार तप का कल्प पूर्ण होता है। परिहार तप पूर्ण होने पर वे साधु या तो इसी कल्प को पुनः प्रारम्भ करते हैं या जिनकल्प धारण कर लेते हैं या वापिस गच्छ में आ जाते हैं। यह चारित्र छेदोपस्थापनीय चारित्र वालों के ही होता है दूसरों के नहीं।

परिहार विशुद्धि चारित्र के दो भेद हैं—निर्विश्यमानक और निर्विष्ट कायिक।

तप करने वाले पारिहारिक साधु निर्विश्यमानक कहलाते हैं और उनका चारित्र निर्विश्यमान परिहार विशुद्धि चारित्र कहलाता है।

तप करके वैयावच्च करने वाले आनु पारिहारिक साधु तथा तप करके गुरु पद पर रहा हुआ साधु निर्विष्ट कायिक कहलाते हैं और उनका चारित्र निर्विष्टकायिक परिहार विशुद्धि चारित्र कहलाता है।

(४) सूक्ष्म सम्पराय चारित्र—सम्पराय का अर्थ कषाय होता है। जिस चारित्र में सूक्ष्म सम्पराय अर्थात् संज्वलन लोभ का सूक्ष्म अंश रहता है, उसे सूक्ष्म सम्पराय चारित्र कहते हैं।

सूक्ष्म सम्पराय चारित्र के दो भेद हैं—विशुध्यमान और संक्लिश्यमान।

क्षपक श्रेणी या उपशम श्रेणी पर चढने वाले साधु के

परिणाम उत्तरोत्तर शुद्ध रहने से उनका सूक्ष्म सम्पराय चारित्र विशुध्य मान कहलाता है।

उपशम श्रेणी से गिरते हुए साधु के परिणाम संक्लेश युक्त होते हैं इसलिए उनका सूक्ष्म सम्पराय चारित्र संक्लिश्यमान कहलाता है।

(५) यथाख्यात चारित्र–कषाय का सर्वथा उदय न होने से अतिचार सहित पारमार्थिक रूप से प्रसिद्ध चारित्र यथाख्यात चारित्र कहलाता है। अथवा अकषायी साधु का निरतिचार यथार्थ चारित्र यथाख्यात चारित्र कहलाता है।

छद्मस्थ और केवली के भेद से यथाख्यात चारित्र के दो भेद हैं। अथवा उपशान्त मोह और क्षीण मोह, या प्रतिपाति और अप्रतिपाती के भेद से इसके दो भेद हैं।

सयोगी केवली और अयोगी केवली के भेद से केवली यथाख्यात चारित्र के दो भेद हैं।

(ठाणांगसूत्र ठाणा ५)

५ समिति, ३ गुप्ति, २२ परीषह, १० श्रमणधर्म, १२ भावना और ५ चारित्र ये कुल मिलाकर संवर के ५७ भेद हुए।

॥ इति संवर तत्त्व समाप्त ॥

*

निर्जरातत्व

प्र० निर्जरा किसे कहते हैं ?

उ० आत्मा से कर्म वर्गणा का एक देशतः दूर होना निर्जरा है। अथवा जीव रूपी कपड़ा, कर्म रूपी मैल, ज्ञान रूपी पानी, तप संयम रूपी साबुन से धोकर कर्म मैल को दूर करे उसको निर्जरा कहते हैं।

निर्जरा के सामान्यतः बारह भेद हैं। *वे इस प्रकार हैं—अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रस परित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता । ये छह बाह्य तप के भेद हैं । प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग। ये छह आभ्यन्तर तप के भेद हैं।

(१) अनशन—अशन, पान, खादिम, स्वादीम इन चार प्रकार के आहार का त्याग करना अथवा पान (पानी) को छोड़कर तीन आहार का त्याग करना अनशन कहलाता है।

अनशन के मुख्य दो भेद हैं—इत्वरिक अनशन और याव-त्कथिक अनशन । अल्पकाल के लिए किये जाने वाले अनशन

---

*अणसण मूणोयरिया, वित्ति संखेवणं रसच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य वज्झो तवो होइ ॥ १ ॥
पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं उस्सग्गो वि य, अब्भितरो तवो होइ ॥ २ ॥
(नव तत्त्व में से)

को इत्वरिक अनशन कहते हैं। इसके चौदह भेद हैं—*१

*प्र० चतुर्थभक्त (चउत्थ भत्त)का क्या अर्थ है ?

उ० जिस तप के उपवास के पहले दिन एक भक्त (एक समय के भोजन) का, उपवास के दिन दो भक्त का और पारणे के दिन एक भक्त का त्याग किया जाता है उसे चतुर्थ भक्त कहते हैं। यह 'चतुर्थ भक्त' शब्द का केवल व्युत्पत्त्यर्थ है। इसका रूढ अर्थ तो उपवास है। इसलिए उपवास दिवस के दिन रात के दो भक्त का त्याग करना ही इस प्रत्याख्यान का अर्थ है।

यह बात भगवती सूत्र शतक २ उद्देशक १ सूत्र ९२ की टीका में कही गई है। वह टीका इस प्रकार है—

चतुर्थं भक्तं यावद्भक्तं त्यज्यते यत्र तच्चतुर्थम्। इयं च उपवासस्य संज्ञा एवं षष्ठादिकमुपवास द्वयादेरिति।

अर्थात्—जिसमें चोथे भक्त तक आहार का त्याग किया जाय वह चतुर्थभक्त है। चतुर्थ भक्त यह उपवास की संज्ञा है। इसी प्रकार षष्ठ आदि भी दो उपवास आदि की संज्ञा है।

ठाणांग सूत्र ठाणा ३ उद्देशक ३ सूत्र १९२ की टीका में भी यही बात कही गई है।

अन्तगडदशाङ्ग सूत्र के आठवें वर्ग के पहले अध्ययन में रत्नावली तप का वर्णन है। उसकी टीका में लीखा है—

चतुर्थभक्त, (२) षष्ठ भक्त (३) अष्टम भक्त, (४) दशम भक्त, (५) द्वादश भक्त (६) चतुर्दश भक्त, (७) षोडश भक्त (८) अर्द्ध मासिक, (९) मासिक, (१०) द्विमासिक (११) त्रैमासिक (१२) चातुर्मासिक, (१३) पञ्चमासिक (१६) *षाण्मासिक।

यावत्कथिक अनशन के छह भेद हैं—पादपोपगमन, भक्त-प्रत्याख्यान, इङ्गितमरण। इन तीनों के निहारी और अनिहारी के भेद से छह भेद हो जाते हैं।

चतुर्थ मेकेनोपवासेन, षष्ठं द्वाभ्यां अष्टमं त्रिभिः॥

अर्थात्—चतुर्थभक्त का मतलब एक उपवास है। षष्ठभक्त का अर्थ दो उपवास है और अष्टमभक्त का अर्थ तीन उपवास है। इस तरह आगे भी समझना चाहिये।

इस टीका से स्पष्ट है कि 'चतुर्थभक्त' का मतलब उपवास होता है।

*प्रवचन शास्त्रोद्धार में उत्कृष्ट इत्वरिक अनशन इस प्रकार बताया गया है—

भगवान् ऋषभदेव के शासन में एक वर्ष, मध्य के बाईस तीर्थङ्करों के शासन में आठ मास और भगवान् महावीर के शासन में छह मास।

भरत, ऐरावत क्षेत्र के तीर्थङ्करों के शासन में प्रथम, अन्तिम और मध्य तीर्थङ्करों के शासन में सदा यही क्रम है।

पादपोपगमन—चारों आहार का त्याग करके अपने शरीर के किसी भी अङ्ग को किञ्चिन्मात्र भी न हिलाते हुए निश्चल रूप से संथारा करना पादपोपगमन कहलाता है। पादप का अर्थ है वृक्ष। जिस प्रकार कटा हुआ वृक्ष अथवा वृक्ष की कटी हुई डाली हिलती नहीं उसी प्रकार संथारा करके जिस स्थान पर जिस रूप में एक वार लेट जाय फिर उसी जगह उसी रूप में लेट रहना और इस प्रकार मृत्यु हो जाना पादपोपगमन मरण है। इसमें हाथ पैर हिलाने का भी आगार (छूट) नहीं होता है।

पादपोपगमन के दो भेद हैं—व्याघातिम और निर्व्याघातिम॥

सिंह, व्याघ्र, अग्नि का उपद्रव होने पर जो संथारा (अनशन) किया जाता है वह व्याघातिम पादपोपगमन संथारा कहलाता है।

जो किसी भी प्रकार के उपद्रवके विना स्वेच्छा से संथारा किया जाता है वह निर्व्याघातिम पादपोपगमन संथारा कहलाता है।

(२) भक्त प्रत्याख्यान—यावज्जीवन तीन या चारों आहारों का त्याग कर जो संथारा किया जाता है उसे भक्त-प्रत्याख्यान अनशन कहते हैं। इसीको भक्त परिज्ञा भी कहते हैं।

(३) इङ्गित मरण—यावज्जीवन चारों प्रकार के आहार

का त्याग कर निश्चित स्थान में हिलने डुलने का आगार रखकर जो संथारा किया जाता है उसे इङ्गित मरण अनशन कहते हैं। इसे इङ्गिनी मरण भी कहते हैं। इङ्गित मरण संथारा करने वाला अपने स्थान को छोड़कर कहीं नहीं जाता है। एक ही स्थान पर रहते हुए हाथ पैर आदि हिलाने का उसे आगार रहता है, वह दूसरों से सेवा नहीं कराता है।

ये तीनों प्रकार के अनशन (संथारा, मरण) निहारी और अनिहारी के भेद से दो तरह के होते हैं। निहारी संथारा नगर आदि के अन्दर किया जाता है और अनिहारी ग्राम, नगरादि से बाहर किया जाता है अर्थात् जिस मुनि का मरण ग्रामादि के अन्दर हुआ हो और उसके मृतक शरीर को ग्रामादि से बाहर ले जाना पडे तो उसे निहारी मरण कहते हैं। ग्रामादि के बाहर किसी पर्वत की गुफा आदि में जो मरण हो उसे अनिहारी मरण कहते हैं।

अनशन तप के दूसरी तरह से और भी भेद किये जाते हैं। इत्वरी अनशन तप के छह भेद हैं—श्रेणी तप, प्रतर तप, घन तप, वर्ग तप, वर्गावर्ग तप, प्रकीर्णक तप। श्रेणी तप आदि तपश्चर्याएँ भिन्नभिन्न प्रकार से उपवासादि करने से होती हैं।

यावत्कथिक अनशन के काय चेष्टा की अपेक्षा दो भेद हैं—सविचार (काया की क्रिया सहित अवस्था) और अविचार (काया की क्रिया रहित अवस्था)। अथवा यावत्कथिक के

दूसरी तरह से दो भेद हैं—सपरिकर्म (संथारे की अवस्था में दुसरे मुनियों से सेवा कराना) और अपरिकर्म (संथारे की अवस्था में दुसरे मुनियों से सेवा नहीं कराना)। अथवा निहारी और अनिहारी, ये दो भेद भी हैं, जिनका अर्थ ऊपर बता दिया गया है।

प्र० ऊनोदरी किसे कहते हैं?

उ० भोजन आदि के परिमाण को और क्रोध आदि के आवेश को कम करना ऊनोदरी तप कहलाता है। ऊनोदरी के दो भेद हैं—द्रव्य ऊनोदरी और भाव ऊनोदरी।

प्र० द्रव्य ऊनोदरी किसे कहते हैं?

उ० भण्ड उपकरण और आहार पानी का शास्त्र में परिमाण बताया गया है उसमें कमी करना तथा अतिसरस और पौष्टिक आहार का त्याग करना द्रव्य ऊनोदरी है। द्रव्य ऊनोदरी के दो भेद हैं— उपकरण द्रव्य ऊनोदरी और भक्त पान द्रव्य ऊनोदरी। उपकरण द्रव्य ऊनोदरी के तीन भेद हैं—एक पात्र, एक वस्त्र, और जीर्ण उपधि। भक्तपान द्रव्य ऊनोदरी के सामान्यतः पांच भेद हैं—(१) आठ कवल (ग्रास) प्रमाण आहार करना अल्पाहार ऊनोदरी है। (२) बारह कवल प्रमाण आहार करना उपार्द्ध ऊनोदरी है। (३) सोलह कवल प्रमाण आहार करना अर्द्ध ऊनोदरी है। (४) चौबीस कवल प्रमाण आहार करना प्राप्त (पौन) ऊनोदरी है। (५) इकतीस कवल प्रमाण आहार करना किञ्चित् ऊनोदरी है और पूरे

बत्तीस कवल प्रमाण आहार करना प्रमाणोपेत आहार कहलाता है।

प्र० भाव ऊनोदरी किसे कहते हैं ?

उ० क्रोध, मान, माया, लोभ में कमी करना, अल्प शब्द बोलना, कषाय के वश होकर भाषण न करना तथा हृदय में रहे हुए कषाय को शान्त करना भाव ऊनोदरी है। इसके सामान्यतः छह भेद है—(१) अल्प क्रोध, (२) अल्प मान, (३) अल्प माया, (४) अल्प लोभ, (५) अल्प शब्द, (६) अल्प भक्त (कलह)।

यह ऊनोदरी का वर्णन हुआ। अब भिक्षाचर्या का वर्णन किया जाता है—

प्र० भिक्षाचर्या किसे कहते हैं ?

उ० विविध प्रकार के अभिग्रह लेकर भिक्षा का संकोच करते हुए विचरना भिक्षाचर्या (भिक्षाचारी) तप है। अभिग्रह पूर्वक भिक्षा करने से वृत्ति का संकोच होता है। इसलिए इसे वृत्ति संक्षेप भी कहते हैं। उववाई सूत्र में इसका विस्तृत भेदों सहित वर्णन आता है। सामान्यतः इसके तीस भेद हैं—

(१) द्रव्य—किसी द्रव्य विशेष का अभिग्रह लेकर भिक्षाचर्या करना।

(२) क्षेत्र—स्वग्राम और परग्राम से भिक्षा लेने का अभिग्रह करना।

(३) काल—प्रातःकाल या मध्याह्न में भिक्षाचर्या करना।

(४) भाव–गाना, हंसना आदि क्रियाओं में प्रवृत्त पुरुष से भिक्षा लेने का अभिग्रह करना ।

(५) उत्क्षिप्त चरक–अपने प्रयोजन के लिए गृहस्थ के द्वारा भोजन के पात्र से बाहर निकाले हुए आहार की गवेषणा करना ।

(६) निक्षिप्त चरक–भोजन के पात्र से बाहर न निकाले हुए आहार की गवेषणा करना ।

(७) उत्क्षिप्त निक्षिप्त चरक–भोजन के पात्र से उद्धृत (बाहर निकाले हुए) और अनुद्धृत (बाहर न निकाले हुए) दोनों प्रकार की गवेषणा करना ।

(८) निक्षिप्त उत्क्षिप्त चरक–पहले भोजन के पात्र में डाले हुए और फिर अपने लिए बाहर निकाले हुए आहारादि की गवेषणा करना ।

(९) वट्टिज्जमाण चरए (वर्त्यमान चरक)–गृहस्थ के लिए थाली में परोसे हुए आहार की गवेषणा करना ।

(१०) साहरिज्जमाण चरए–कूरा (एक प्रकार का धान्य) जो ठण्डा करने के लिए थाली आदि में डाल कर वापिस भोजन पात्र में डाल दिया गया हो ऐसे आहार की गवेषणा करना ।

(११) उवणीय चरए (उपनीत चरक)–दुसरे साधु द्वारा अन्य साधु के लिये लाये हुए आहार की गवेषणा करना ।

(१२) अवणीय चरए (अपनीत चरक)–पकाने के पात्र

से निकाल कर दुसरी जगह रखे हुए पदार्थ की गवेषणा करना ।

(१३) उवणीयावणीय चरए (उपनीतापनीत चरक)- उपरोक्त दोनों प्रकार के आहार की गवेषणा करना । अथवा दाता द्वारा उस पदार्थ के गुण और अवगुण सुनकर फिर ग्रहण करना अर्थात् एक ही पदार्थ की एक गुण से तो प्रशंसा और दुसरे गुण की अपेक्षा दुषण सुनकर फिर लेना । जैसे- यह जल ठण्डा तो है किन्तु खारा है । इत्यादि ।

(१४) अवणीयोवणीय चरए (अपनीतोपनीत चरक)- मुख्य रूप से अवगुण और सामान्य रूप से गुण को सुनकर फिर उस पदार्थ को लेना । जैसे यह जल खारा है परन्तु ठण्डा है । इत्यादि ।

(१५) संसट्ठ चरए (संसृष्ट चरक)-उसी पदार्थ से खरडे हुए हाथ से दिये जाने वाले आहार की गवेषणा करना ।

(१६) असंसट्ठ चरए (असंसृष्ट चरक)-बिना खरडे हुए हाथ से दिये जाने वाले आहार की गवेषणा करना ।

(१७) तज्जायसंसट्ठ चरए (तज्जातसंसृष्ट चरक)-भिक्षा में दिये जाने वाले पदार्थ के समान (अविरोधी) पदार्थ से खरडे हुए हाथ से दिये जाने वाले पदार्थ की गवेषणा करना।

(१८) अण्णाय चरए (अज्ञात चरक)-अपना परिचय दिये विना आहारादि की गवेषणा करना ।

(१९) मोण चरए (मौन चरक)-मौन धारण करके आहारादि की गवेषणा करना।

(२०) दिट्ठलाभिए (दृष्ट लाभिक)-दृष्टिगोचर होने वाले आहार की गवेषणा करना। अथवा सब से प्रथम दृष्टि गोचर होने वाला दाता से ही भिक्षा लेना।

(२१) अदिट्ठलाभिए (अदृष्ट लाभिक)-अदृष्ट अर्थात् पर्दे आदि के भीतर रहे हुए आहार की गवेषणा करना। अथवा पहले नहीं देखे हुए दाता से आहारादि लेना।

(२२) पुट्ठलाभिए (पृष्ट लाभिक)-हे मुनि! आप को किस चीज की आवश्यकता है? इस प्रकार प्रश्न पूछने वाले दाता से आहारादि की गवेषणा करना।

(२३) अपुट्ठलाभिए (अपृष्ट लाभिक)-किसी प्रकार का प्रश्न पूछने वाले दाता से ही आहारादि की गवेषणा करना।

(२४) भिक्ख लाभिए (भिक्षा लाभिक)-रूखे सूखे तुच्छ आहार की गवेषणा करना।

(२५) अभिक्ख लाभिए (अभिक्षा लाभिक)-सामान्य आहार की गवेषणा करना।

(२६) अण्णगिलाए (अन्नग्लायक)-अन्न के बिना ग्लानि पाना अर्थात् अभिग्रह विशेष के कारण प्रातःकाल ही आहार की गवेषणा करना।

(२७) ओवणिहियए (औपनिहितक)-किसी तरह पास में रहने वाले दाता से आहारादि की गवेषणा करना।

(२८) परिमियपिंडवाइए (परिमित पिण्डपातिक)—परिमित आहारादि की गवेषणा करना।

(२९) सुद्धेसणिए (शुद्धैषणिक)—शङ्कादि दोष रहित शुद्ध ऐषणापूर्वक कूरा आदि तुच्छ अन्नादि की गवेषणा करना।

(३०) संखादत्तिए (संख्यादत्तिक)—बीच में धार टूटते हुए एक वार में जितना आहार या पानी पात्र में गिरे उसे दत्ति कहते हैं। ऐसी दत्तियों की संख्या का नियम करके भिक्षा की गवेषणा करना।

उववाई (औपपातिक) सूत्र में इनका विस्तृत वर्णन एवं भेद आदि दिये गये हैं। यहां आहार के विषय में कहा गया है। इसी तरह साधु के लिए संयमोपकारी सब धर्मोपकरणों के विषय में यथायोग्य समझ लेना चाहिये।

अब रस त्याग का वर्णन किया जाता है—

प्र० रसत्याग किसे कहते हैं?

उ० विकारजनक दूध, दही, घी आदि विगयों का तथा प्रणीत (स्निग्ध और गरिष्ठ) खान पान की वस्तुओं का त्याग करना रस त्याग है। जिह्वा के स्वाद को छोडना रस त्याग है। इसके अनेक भेद हैं। किन्तु सामान्यतः नौ भेद हैं—

(१) प्रणीतरस परित्याग—जिस में घी आदि की बूंदे रही हो ऐसे आहार का त्याग करना।

(२) आयम्बिल–भात, उडद आदि से आयम्बिल तप करना।

(३) आयामसियभोजी–चावल आदि के पानी में पड़े हुए धान्य आदि का आहार करना।

(४) अरसाहार–नमक, मिर्च आदि मसालों के बिना रस रहित आहार करना।

(५) विरसाहार–जिनका रस चला गया हो ऐसे पुराने धान्य या भात आदि का आहार करना।

(६) अन्ताहार–जघन्य अर्थात् जो आहार बहुत गरीब लोग करते हैं ऐसे चने चबीने आदि खाना।

(७) प्रान्ताहार–गृहस्थों के भोजन कर लेने के बाद बचा खुचा आहार ले कर आहार करना।

(८) रूक्षाहार–बहुत रूखा सूखा आहार करना। कहीं कहीं 'रूक्खाहार' की जगह 'तुच्छाहार' पाठ है उसका अर्थ है तुच्छ, सत्त्वरहित, निःसार आहार करना।

(९) निर्विगय–तेल, घी, गुड़ आदि विगयों से रहित आहार करना।

इस प्रकार रसपरित्याग के और भी अनेक भेद हो सकते हैं। यहां नौ ही दिये गये हैं।

अब कायाक्लेश का वर्णन किया जाता है—

प्र० कायाक्लेश किसे कहते हैं?

उ० शास्त्रसम्मत रीति से शरीर-काया को क्लेश पहुं-चाना कायाक्लेश तप है। उग्र वीरासनादि आसनों का सेवन करना, लोच करना, शरीर की शोभा शुश्रुषा का त्याग करना आदि कायाक्लेश के अनेक भेद हैं। सामान्यतः इस के तेरह भेद हैं वे इस प्रकार हैं—

(१) ठाणाट्ठितिए (स्थानस्थितिक)-कायोत्सर्ग करके निश्चल बैठना।

(२) ठाणाइए (स्थानातिग)-आसन विशेष से बैठकर कायोत्सर्ग करना।

(३) उक्कुडुयासणिए (उत्कुट्टुकासनिक) – उक्कडु (उत्कुट्टुक) आसन से बैठ कर कायोत्सर्ग करना।

(४) पडिमट्ठाई (प्रतिमास्थायी)-एकमासिकी पडिमा, दो मासिकी पडिमा आदि स्वीकार करके विचरना।

(५) वीरासणिए (वीरासनिक)–सिंहासन अर्थात् कुर्सी पर बैठे हुए पुरुष के नीचे से कुर्सी निकाल देने पर जो अवस्था रहती है वह वीरासन कहलाता है। ऐसे आसन से बैठना।

(६) नैसज्जिए (नैषधिक) निषद्या (आसनविशेष) से भूमि पर बैठ कर कायोत्सर्ग करना।

(७) दंडायए (दण्डायतिक) – लम्बे डण्डे की तरह भूमि पर लेट कर कायोत्सर्ग आदि करना।

(८) लगण्डशायी–जिस आसनमें पैरों की दोनों एडियां

और शिर पृथ्वी पर लगे, बाकी सारा शरीर ऊपर उठा रहे, इस प्रकार टेढी लकड़ी की तरह के आसन को लगण्ड आसन कहते हैं। इस प्रकार के आसन से रह कर कायोत्सर्ग आदि तप करना।

(९) आयावए (आतपक) – शीतकाल में शीत (ठण्ड) में बैठ कर और उष्णकाल में सूर्य की प्रचण्ड धूप में बैठ कर आतापना लेना। आतापना के तीन भेद हैं–निष्पन्न, अनिष्पन्न और ऊर्ध्वस्थित।

निष्पन्न अर्थात् लेट कर (सो कर) ली जाने वाली आतापना निष्पन्न आतापना कहलाती है। इसके तीन भेद हैं–

(१) अधोमुखशायिता–नीचे की ओर मुंह कर के सोना।

(२) पार्श्वशायिता–पार्श्वभाग (पसवाडे) से सोना।

(३) उत्तानशायिता – समचित्त (ऊपर की तरफ मुंह करके) सोना।

अनिष्पन्न अर्थात् आसन विशेष से बैठ कर बैठे हुए आतापना लेना अनिष्पन्न आतापना कहलाती है। इसके तीन भेद हैं—

(१) गोदोहिका–गाय दुहते समय पुरुष का जो आसन होता है वह गोदोहिका आसन कहलाता है। इस प्रकार के आसन से बैठ कर आतापना लेना।

(२) उत्कुटुकासनता–उक्कडु आसन से बैठ कर आतापना लेना।

(३) पर्यङ्कासनता–पलाठी मार कर बैठना पर्यङ्कासन कहलाता है। इस आसन से बैठ कर आतापना लेना।

ऊर्ध्वस्थित अर्थात् खड़े रह कर आतापना लेना। इसका भी तीन भेद हैं—

(१) हस्तिशौण्डिका–हाथी की सूंड की तरह दोनों हाथों को नीचे की ओर लटका कर खड़े रहना हस्तिशौण्डिका आसन कहलाता है। इस आसन से खड़े रह कर आतापना लेना।

(२) एक पादिका–एक पैर से खड़े रह कर आतापना लेना।

(३) समपादिका–दोनों पैरों को बरावर रख कर आतापना लेना।

उपरोक्त निष्पन्न, अनिष्पन्न और ऊर्ध्वस्थित के तीनों भेदों के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से प्रत्येक के तीन तीन भेद भी होते हैं।

(१०) अवाउडए (अपावृत्तक) खुले मैदान में आतापना लेना।

(११) अकण्डूयक–शरीर को न खुजलाते हुए आता-लेना।

(१२) अनिष्ठीवक–निष्ठीवन (थूकना) आदि न करते हुए आतापना लेना।

(१४) धूयकेस संसुलोम (द्युतकेशश्मश्रुलोम)–दाढी,

मूंछ आदि के केशों को न संवारते हुए अर्थात् अपने शरीर की विभूषा को छोड़ कर आतापना लेना।

इत्यादि प्रकार से कायाक्लेश के अनेक भेद हैं। अब प्रतिसंलीनता का वर्णन किया जाता है—

प्र० प्रतिसंलीनता किसे कहते हैं?

उ० प्रतिसंलीनता का अर्थ है गोपन करना। योग, इन्द्रिय और कषायों की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना प्रतिसंलीनता है। मुख्य रूप से इसके चार भेद हैं-(१) इन्द्रियप्रतिसंलीनता, (२) कषायप्रतिसंलीनता, (३) योगप्रतिसंलीनता, (४) विविक्त शय्यासनता। इन्द्रियप्रतिसंलीनता का पांच भेद हैं। कषाय प्रतिसंलीनता के चार भेद हैं। योगप्रतिसंलीनता के तीन भेद हैं। और विविक्तशय्यासनता। ये कुल मिला कर तेरह भेद हो जाते हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय प्रतिसंलीनता-श्रोत्रेन्द्रिय को अपने विषयों की ओर जाने से रोकना। तथा श्रोत्रेन्द्रियद्वारा गृहित विषयों में रागद्वेष न करना।

(२) चक्षुरिन्द्रिय प्रतिसंलीनता—चक्षु (नेत्रों) को अपने विषय की ओर जाने से रोकना और चक्षुरिन्द्रिय द्वारा गृहित विषयों में रागद्वेष क करना।

(३) घ्राणेन्द्रिय प्रतिसंलीनता।

(४) रसनेन्द्रिय प्रतिसंलीनता।

(५) स्पर्शनेन्द्रिय प्रतिसंलीनता।

इनका स्वरूप भी ऊपर लिखे अनुसार जान लेना चाहिये।

(६) क्रोध प्रतिसंलीनता-क्रोध का उदय न होने देना तथा उदय में आये हुए क्रोध को निष्फल बना देना।

(७) मान प्रतिसंलीनता।

(८) माया प्रतिसंलीनता।

(९) लोभ प्रतिसंलीनता।

इन तीनों का स्वरूप क्रोध प्रतिसंलीनता के समान है।

(१०) मन प्रतिसंलीनता-मन की अकुशल (अशुभ) प्रवृत्ति को रोकना तथा कुशल (शुभ) प्रवृत्ति करना और चित्त को एकाग्र स्थिर करना।

(११) वचन प्रतिसंलीनता-अकुशल (अशुभ) वचन को रोकना तथा कुशल (शुभ एवं निरवद्य) वचन बोलना और वचन की प्रवृत्ति को रोकना। ये सब वचन प्रतिसंलीनता है।

(१२) काया प्रतिसंलीनता-अच्छी तरह समाधिपूर्वक शान्त हो कर, हाथ पैर सकुचित करके, कछुए की तरह गुप्तेन्द्रिय हो कर आलीन-प्रलीन अर्थात् स्थिर होना काया प्रतिसंलीनता कहलाती है।

(१३) विविक्त शय्यासनता-स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित स्थान में निर्दोष शयन आदि उपकरणों को स्वीकार कर के रहना विविक्त शय्यासनता कहलाती है। आराम (बगीचा) उद्यान आदि में संथारा अङ्गीकार करना भी विविक्त शय्यासनता कहलाती है।

अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता ये छह बाह्य तप कहलाते हैं। ये मुक्तिप्राप्ति के बाह्य अङ्ग हैं। ये बाह्य द्रव्यादि की अपेक्षा रखते हैं, प्रायः बाह्य शरीर को तपाते हैं अर्थात् शरीर पर इनका अधिक असर पड़ता है। इन तपों का करने वाला भी लोक में तपस्वी रूप से प्रसिद्ध हो जाता है। अन्य तीर्थिक भी स्वाभिप्राया-नुसार इनका सेवन करते है। इत्यादि कारणों से ये तप बाह्य तप कहे जाते हैं।

अब आभ्यन्तर तप का वर्णन किया जाता है—

प्र० आभ्यन्तर तप किसे कहते हैं?

उ० जिस तप का सम्बन्ध आत्मा के भावों से हो उसे आभ्यन्तर तप कहते हैं। इसके छह भेद हैं-(१) प्रायश्चित (२) विनय (३) वैयावृत्य (वैयावच्च) (४) स्वाध्याय (५) ध्यान (६) व्युत्सर्ग।

प्र० प्रायश्चित्त किसे कहते हैं?

उ० जिससे मूल गुण और उत्तर गुण विषयक अतिचारों से मलिन आत्मा शुद्ध हो उसे प्रायश्चित कहते हैं। अथवा प्रायः का अर्थ 'पाप' और 'चित्त' का अर्थ है 'शुद्धि'।

जिस अनुष्ठान से पाप की शुद्धि हो उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। प्रायश्चित्त के ५० भेद है। वे इस प्रकार हैं — दस प्रकार का प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्त देने वाले के दस गुण, प्रायश्चित्त लेने वाले के दस गुण, प्रायश्चित्त के दस दोष,

प्रायश्चित्त सेवन करने के दस कारण। ये सब मिला कर प्रायश्चित्तके ५० भेद हुए।

अब प्रायश्चित्त के दस भेदों का वर्णन किया जाता है–

(१) आलोयणारिहे (२) पडिक्कमणारिहे (३) तदुभयारिहे (४) विवेगारिहे (५) विउस्सग्गारिहे (६) तवारिहे (७) छेदारिहे (८) मूलारिहे (९) अणवट्ठप्पारिहे (१०) पारंचियारिहे।

(१) आलोयणारिहे–(आलोचनार्ह)–संयम में लगे हुए दोष को गुरु के समक्ष स्पष्ट वचनों से सरलतापूर्वक प्रकट करना आलोचना है। जो प्रायश्चित्त (अपराध) आलोचना मात्र से शुद्ध हो जाय उसे आलोयणारिहे (आलोचनार्ह) या आलोचना प्रायश्चित्त कहते हैं।

(२) पडिक्कमणारिहे (प्रतिक्रमणार्ह)–प्रतिक्रमण के योग्य, प्रतिक्रमण अर्थात् दोष से पीछे हटना एवं किये हुए पाप के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना। जो पाप सिर्फ प्रतिक्रमण से शुद्ध हो जाय, गुरु के समीप कह कर आलोचना करने की आवश्यकता न पड़े उसे पडिक्कमणारिहे (प्रतिक्रमणार्ह) प्रायश्चित्त कहते हैं।

(३) तदुभयारिहे (तदुभयार्ह)–जो दोप आलोचना और ण दोनों से शुद्ध किया जाने योग्य हो उसे तदुभयारिहे (तदुभयार्ह) कहते हैं। इसे मिश्र प्रायश्चित्त भी कहते हैं।

(४) विवेगारिहे (विवेकार्ह)–जो प्रायश्चित्त आधा कर्म

आदि दोषयुक्त आहारादि का विवेक अर्थात् त्याग करने से शुद्ध हो जाय उसे विवेगारिहे (विवेकार्ह) कहते हैं।

(५) विउस्सग्गारिहे (व्युत्सर्गार्ह)-जिस दोष की शुद्धि सिर्फ कायोत्सर्ग करने से हो जाय उसे विउस्सग्गारिहे (व्युत्सर्गार्ह) कहते हैं

(६) तवारिहे (तपार्ह)-जिस दोष की शुद्धि तप से हो उसे तवारिहे (तपार्ह) कहते हैं।

(७) छेदारिहे (छेदार्ह)-जिस दोष की शुद्धि दीक्षा-पर्याय का छेद करने से हो उसे छेदारिहे (छेदार्ह) कहते हैं।

(८) मूलारिहे (मूलार्ह)-ऐसा दोष जिसके सेवन करने पर साधु को एक बार लिया हुआ संयम छोड़ कर दुबारा संयम (दीक्षा) लेना पड़े।

छेदार्ह में कुछ समय की या चार महीने की या छह महीने की दीक्षा कम कर दी जाती है। ऐसा होने पर दोषी साधु उन सब साधुओं को वन्दना करता है जिनसे पहले दीक्षित होने पर भी दीक्षापर्याय कम कर देने से वह छोटा हो गया है।

मूलार्ह में उसका संयम बिलकुल नहीं गिना जाता है। दोषी साधुको दुबारा दीक्षा लेनी पड़ती है और अपने से पीछे दीक्षित हुए सभी साधुओं को भी वन्दना करनी पड़ती है।

(९) अणवट्ठप्पारिहे (अनवस्थाप्यर्ह) - तप के बाद दुबारा दिक्षा देने योग्य। जब तक अमुक प्रकार का विशेष

तप न करे उसे संयम (दीक्षा) नहीं दी जा सकती। तप के बाद दुबारा दीक्षा लेने पर ही जिस दोष की शुद्धि हो उसे अणवट्ठप्पारिहे (अनवस्थाप्याई) प्रायश्चित कहते हैं।

(१०) पारंचियारिहे (पारांचिकार्ह)—गच्छ से बाहर करने योग्य। जिस दोष में साधु को गच्छ से निकाल दिया जाय उसे पारंचियारिहे (पारांचिकार्ह) प्रायश्चित कहते हैं।

साध्वी या रानी आदि का शीलभङ्ग करने पर यह प्रायश्चित दिया जाता है। यह महापराक्रम वाले आचार्य को ही दिया जाता है। इसकी शुद्धि के लिए छह महिने से लेकर बारह वर्ष तक गच्छ छोडकर जिनकल्पी की तरह कठोर तपस्या करनी पडती है। उपाध्याय के लिए नवें प्रायश्चित तक का विधान है। सामान्य साधु के लिए आठवें प्रायश्चित (मूलार्ह) तक का विधान है।

जहां तक चौदह पूर्वधारी और वज्रऋषभ नाराच नामक पहले संहनन वाले होते हैं वहीं तक दसों प्रायश्चित रहते हैं। उनका विच्छेद होने के बाद मूलार्ह तक आठ ही प्रायश्चित होते हैं।

आलोचना देने वाले के दस गुण—

(१) आचारवान् (२) आधारवान् (३) व्यवहारवान् (४) अपव्रीडक (५) प्रकुर्वक (६) अपरिस्रावी (७) निर्यापक (८) अपायदर्शी (९) प्रियधर्मा (१०) दृढधर्मा।

(१) आचारवान्—ज्ञानादि आचार वाला।

(२) आधारवान्-बताये हुए अतिचारों (दोषों) को मन में धारण करने वाला।

(३) व्यवहारवान्-आगमव्यवहार, धारणाव्यवहार आदि पांच व्यवहारों का ज्ञाता।

(४) अपव्रीडक-शर्म से अपने दोषों को छिपाने वाले शिष्य की शर्म को मीठे वचनों से दूर करके अच्छी तरह आलोचना कराने वाला।

(५) प्रकुर्वक-आलोचित अपराध का प्रायश्चित दे कर दोषोंकी शुद्धि कराने में समर्थ।

(६) अपरिस्रावी-आलोचना करने वाले के दोषों को दूसरे के सामने प्रकट नहीं करने वाला।

(७) निर्यापक-अशक्ति या और किसी कारण से एक साथ पूरा प्रायश्चित लेने में असमर्थ साधु को थोडा थोडा प्रायश्चित देकर निर्वाह करने वाला।

(८) अपायदर्शी-आलोचना नहीं लेने में परलोक का भय तथा दूसरे दोष दिखाने वाला।

(९) प्रियधर्मा-जिसको धर्म प्यारा हो।

(१०) दृढधर्मा-जो धर्म में दृढ हो।

प्रायश्चित लेनेवाले साधु के दस गुण—

(१) जाति सम्पन्न (२) कुल सम्पन्न (३) विनय सम्पन्न (४) ज्ञान सम्पन्न (५) दर्शन सम्पन्न (६) चारित्र सम्पन्न (७)

क्षमावान् (८) दान्त (९) अमायी (१०) अपश्चात्तापी।

उपरोक्त दस गुणों से युक्त अनगार अपने दोषों की आलोचना करने योग्य होता है। इनका अर्थ कहा जाता है—

(१) जाति सम्पन्न—उत्तम *जाति वाला। उत्तम जाति वाला प्रथम तो बुरा काम करता ही नहीं है। यदि कदाचित उससे भूल हो भी जाय तो वह शुद्ध हृदय से आलोचना कर लेता है।

(२) कुल सम्पन्न—उत्तम ×कुल वाला। उत्तम कुल में पैदा हुआ व्यक्ति, लिए हुए प्रायश्चित को अच्छी तरह से पूरा करता है।

(३) विनयसम्पन्न—विनयवान्। विनयवान् साधु बड़ोंकी बात मान कर हृदय से आलोचना कर लेता है।

(४) ज्ञान सम्पन्न—ज्ञानवान्। मोक्षमार्ग की आराधना के लिए क्या करना चाहिये और क्या नहीं? इस बात को समझ कर वह अच्छी तरह आलोचना कर लेता है।

(५) दर्शन सम्पन्न—श्रद्धालु। भगवान् के वचनों पर श्रद्धा होने के कारण वह शास्त्रों में बताई हुई प्रायश्चित्त से होने वाली शुद्धि को मानता है अत एव आलोचना कर लेता है।

(६) चारित्रसम्पन्न—उत्तम चारित्रवाला। अपने चारित्र को शुद्ध रखने के लिए वह दोषों की आलोचना कर लेता है।

---

*मातृ पक्ष को जाति कहते हैं।

×पितृ पक्ष को कुल कहते हैं।

(७) क्षान्त–क्षमावान्–क्षमावाला। किसी दोष के कारण गुरु से भर्त्सना या फटकार आदि मिलने पर भी वह क्रोध नहीं करता। अपना दोष स्वीकार कर के आलोचना कर लेता है।

(८) दान्त–इन्द्रियों को वश में रखने वाला। इन्द्रियों के विषय में अनासक्त व्यक्ति कठोरसे कठोर प्रायश्चित्त को शीघ्र स्वीकार कर लेता है। वह पापों की आलोचना भी शुद्ध हृदय से करता है।

(९) अमायी–कपट रहित। कपटरहित अर्थात् सरल व्यक्ति अपने पाप को विना छिपाये शुद्ध हृदय से आलोचना कर लेता है।

(१०) अपश्चात्तापी–आलोचना लेने के बाद जो पश्चात्ताप नहीं करता।

प्रायश्चित्त के दस दोष—(१)–आकम्पयित्ता (२) अणुमाणइत्ता (३) दिट्ठं (४) बायरं (५) सुहुमं (६) छण्णं (७) सद्दाउअयं (८) बहुजण (९) अव्वत्त (१०) तस्सेवी।

(१) आकंपयित्ता–' प्रसन्न होने पर गुरुमहाराज थोडा प्रायश्चित्त देंगे ' यह सोच कर उन्हें सेवा आदि से प्रसन्न कर के फिर उनके पास दोषों की आलोचना करे तो आकम्पयित्ता दोष है।

---

* आकंपयित्ता अणुमाणइत्ता, जं दिट्ठं बायरं च सुहुमं वा।
छण्णं सद्दाउअयं, बहुजण अव्वत्त तस्सेवी॥

(२) अणुमाणइत्ता–बिल्कुल छोटा अपराध बताने से गुरु महाराज थोड़ा दण्ड देंगे' यह सोच कर अपने अपराध को बहुत छोटा करके बताना अणुमाणइत्ता दोष है।

(३) दिट्ठं (दृष्ट)–जिस अपराध को आचार्य आदि ने देख लिया हो उसी की आलोचना करना दिट्ठं (दृष्ट) दोष है।

(४) बायरं (बादर)–सिर्फ बड़े बड़े अपराधों की आलोचना और छोटे दोषों को छिपा लेना बायरं (बादर) दोष है।

(५) सुहुमं (सूक्ष्म)–'जो अपने छोटे छोटे अपराधों की भी आलोचना कर लेता है वह बड़े अपराधों को कैसे छोड़ सकता है' यह विश्वास उत्पन्न कराने के लिए सिर्फ छोटे छोटे दोषों की आलोचना करना सुहुम (सूक्ष्म) दोष है।

(६) छिण्णं (छिन्न)–अधिक लज्जा के कारण प्रच्छन्न अर्थात् जहां कोई न सुन रहा हो ऐसी जगह आलोचना करना छिन्न दोष है।

(७) सद्दाउअयं (शब्दालु)–दूसरों को सुनाने के लिये जोर जोर से बोल कर आलोचना करना सद्दाउअयं (शब्दालु) दोष है।

(८) बहुजण (बहुजन)–एक ही दोष की बहुत से गुरुओं के पास आलोचना करना बहुजन दोष है।

(९) अव्वत्त (अवक्तव्य)–अगीतार्थ अर्थात् किस दोष के लिए कैसा प्रायश्चित्त दिया जाता है' ऐसा जिस साधु को ज्ञान नहीं हो उसके पास आलोचना करना अव्वत्त (अवक्तव्य) दोष है।

(१०) तस्सेवी (तत्सेवी)—जिस दोष की आलोचना करनी हो, उसी दोष को सेवन करने वाले आचार्यादि के पास आलोचना करना तस्सेवी (तत्सेवी) दोष है।

अतः उपरोक्त दोषों से रहित आचार्यादि के पास आलोचना करना चाहिये

दोष प्रतिसेवना के दस कारण हैं—(१) दर्प (२) प्रमाद (३) अनाभोग (४) आतुर (५) आपत्ति (६) संकीर्ण (७) सहसाकार (८) भय (९) प्रद्वेष (१०) विमर्श।

(१) दर्प—अहंकार के वश संयम की जो विराधना की जाती है वह दर्प दोष है।

(२) प्रमाद—मद्यपान, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा इन पांच प्रमादों के सेवन से संयम की जो विराधना होती है वह प्रमाद दोष है।

(३) अनाभोग—अनाभोग अर्थात् विना उपयोग, अज्ञानता के कारण संयम की जो विराधना होती है उसे अनाभोग दोष कहते हैं।

(४) आतुर—भूख प्यास आदि किसी पीडा से व्याकुल हो कर संयम की विराधना की जाती है उसे आतुर दोष कहते है।

(५) आपत्ति—किसी आपत्ति के आने पर संयम की विराधना करना। आपत्ति चार तरह की होती है—द्रव्यआपत्ति-प्रासुक निर्दोष आहारादि का न मिलना। क्षेत्र आपत्ति—

अटवी आदि भयङ्कर जङ्गल में रहना पडे। काल आपत्ति- दुर्भिक्ष आदि पड़ जाय। भाव आपत्ति-बीमार पड जाना, शरीर का अस्वस्थ हो जाना आदि। इन आपत्तियों में से किसी आपत्ति के आने पर संयम की विराधना करना आपत्ति-दोष है।

(६) संकीर्ण-स्वपक्ष और परपक्ष से होने वाली जगह की तंगी आदि के कारण संयम में दोष लगाना। अथवा शङ्कित प्रतिसेवना-ग्रहण योग्य आहारादि में भी किसी दोष की शङ्का हो जाने पर उसको ले लेना संकीर्ण प्रतिसेवना दोष है।

(९) सहसाकार—अकस्मात् अर्थात् विना पहले समझे बूझे और पडिलेहणा किये विना एकदम किसी काम को करना सहसाकार दोष है।

(८) भय-भयसे संयम को विराधना करना भय दोष है।

(९) प्रद्वेष-किसी पर द्वेष या ईर्ष्या से संयम की विरा-धना करना प्रद्वेष दोष है। यहां प्रद्वेष से चारों कषाय लिये जाते हैं।

(१०) विमर्श—शिष्य की परीक्षा के लिए की गई संयम की विराधना को विमर्श दोष कहते हैं।

इन दस कारणों से संयम में दोष लगता है और उस दोष की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लेना पड़ता है। अतः संयमको दूषित करनेवाले इन कारणोंका त्याग करना चाहिए।

अब विनय का वर्णन किया जाता है—

प्र० विनय किसे कहते हैं ?

उ० सम्पूर्ण दुःखों के कारणभूत आठ प्रकार के कर्मों का विनयन–विनाश जिसके द्वारा होता है उसे विनय कहता हैं अथवा अपने से बड़े और गुरुजनों को देश काल के अनुसार सत्कार सन्मान देना विनय कहलाता है। अथवा–

कर्मणां द्राग् विनयनाद् विनयो विदुषां मतः।
अपवर्ग फलाढ्यस्य, मूलं धर्म तरोरयम् ॥

अर्थात्–ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों का शीघ्र विनाशक होने से यह विनय कहा जाता है। मोक्ष रूपी फल को देने वाले धर्म रूपी वृक्ष का यह मूल है। इसके सामान्यतः सात भेद हैं–(१) ज्ञान विनय, (२) दर्शन विनय, (३) चारित्र विनय, (४) मन विनय, (५) वचन विनय, (६) काय विनय, (७) लोकोपचार विनय। इन सातों के अनान्तर भेद १३४ होते हैं। वे इस प्रकार हैं–ज्ञान विनय के ५। दर्शन विनय के ५५। चारित्र विनय के ५। मन विनय के २४। वचन विनय के २४। काय विनय के १४ और लोकोपचार विनय के ७। ये कुल मिला कर १३४ भेद होते हैं।

अब इनका पृथक् पृथक् वर्णन किया जाता है–

प्र० ज्ञान विनय किसे कहते हैं ?

उ० ज्ञान तथा ज्ञानी पर श्रद्धा रखना, उनके प्रति भक्ति तथा बहुमान दिखाना, उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वोंपर अच्छी

तरह विचार तथा मनन करना और विधिपूर्वक ज्ञान ग्रहण करना, ज्ञान का अभ्यास करना ज्ञान विनय है। इसके पांच भेद हैं। यथामतिज्ञान विनय, श्रुतज्ञान विनय, अवधिज्ञान विनय, मनःपर्यय ज्ञान विनय, केवलज्ञान विनय।

प्र० दर्शन विनय किसे कहते हैं ?

उ० देव अरिहन्त (वीतराग), गुरु निर्ग्रन्थ और धर्म केवलीभाषित, इन तीन तत्त्वों में श्रद्धा रखना दर्शन या सम्यक्त्व कहलाता है। दर्शन का विनय भक्ति और श्रद्धा को दर्शन विनय कहते हैं। इसके सामान्यतः दो भेद हैं-शुश्रूषा विनय और अनाशातना विनय। शुश्रूषा विनय के दस भेद है-

(१) अब्भुट्ठाणे (अभ्युत्थान)-गुरु महाराज या अपने से वडे रत्नाधिक पधारते हों तो उन्हें देखकर खड़े हो जाना। (२) आसणाभिग्गहे (आसनाभिग्रह)-पधारिये, आसन अलङ्कृत कीजिये इस प्रकार कहना (३) आसणप्पदाणे (आसन प्रदान)-बैठने के लिए उन्हें आसन देना। (४) सक्कारे (सत्कार)-उन्हें सत्कार देना। (५) सम्माणे (सन्मान)-सन्मान देना। (६) कीइकम्मे (कीर्ति कर्म)-उनके गुणग्राम-ति करना। (७) अंजलिपग्गहे (अञ्जलिप्रग्रह) हाथ जोड़ना। (८) अणुगच्छणया (अनुगमनता)-वापिस जाते समय कुछ दूर तक पहुँचाने जाना। (९) पज्जुवासणया (पर्युपासनता)-बैठे हो तो उनकी उपासना करना। (१०) पडिसंसाहणा (प्रति संसाधनता) उनके वचन को स्वीकार करना।

अथवा

शुश्रूषा विनय के दूसरी तरह से दस भेद किये गये हैं—

(१) अरिहन्त भगवान् का विनय।

(२) अरिहन्त प्ररूपित धर्म का विनय।

(३) आचार्य का विनय।

(४) उपाध्याय का विनय।

(५) स्थविर का विनय।

(६) कुल का विनय।

(७) गण का विनय।

(८) संघ का विनय।

(९) क्रिया विनय अर्थात् आत्मा, परलोक, मोक्ष आदि हैं ऐसी प्ररूपणा करना।

(१०) साधर्मिक का विनय।

प्र० अनाशातना विनय किसे कहते हैं ?

उ० दर्शन और दर्शनवान् की आशातना न करना अनाशातना विनय है। इसके पैंतालीस भेद हैं—अरिहन्त भगवान्, अरिहन्त प्ररूपित धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, सांभोगिक (साधर्मिक), क्रियावान्, मति ज्ञानवान्, श्रुतज्ञानवान्, अवधि ज्ञानवान्, मनःपर्यय ज्ञानवान्, केवल ज्ञानवान्। इन १५ की आशातना न करना अर्थात् विनय करना, भक्ति करना और गुणग्राम करना। इन तीन कार्यों के करने से ४५ भेद हो जाते हैं। अथवा उपरोक्त १५ को

भक्ति करना, वहुमान करना और वर्णवाद करना, हाथ जोड़ना आदि बाह्य आचारों को भक्ति कहते हैं। हृदय में श्रद्धा और प्रीति रखना वहुमान है। गुण कीर्तन करना तथा गुणों को ग्रहण करना वर्णवाद है।

प्र० चारित्र विनय किसे कहते हैं?

उ० सामायिक आदि चारित्रों पर श्रद्धा करना, काया से उनका पालन करना तथा उनकी प्ररूपणा करना चारित्र विनय है। इसके पांच भेद हैं—

(१) सामायिक चारित्र विनय।

(२) छेदोपस्थापनीय चारित्र विनय।

(३) परिहार विशुद्धि चारित्र विनय।

(४) सूक्ष्म सम्पराय चारित्र विनय।

(५) यथाख्यात चारित्र विनय।

इन पांचों चारित्र धारियों का विनय करना चारित्र-विनय है।

प्र० मन विनय किसे कहते हैं?

उ० आचार्य आदि का मन से विनय करना। मन की प्रवृत्ति को रोकना तथा उसे शुभ प्रवृत्ति में लगाना मन विनय है। इसके दो भेद हैं—अप्रशस्त मन विनय और प्रशस्त मन विनय। अप्रशस्त मन विनय के १२ भेद हैं—सावद्य, सक्रिय, सकर्कश, कटुक, निष्ठुर, परुष (कठोर) आश्रयकारी छेदकारी, भेदकारी, परितापनाकारी, उपद्रवकारी और भूतो-

पघातकारी। ये मन के अप्रशस्तभाव हैं। इन अप्रशस्त भावों को मन में न आने देना अप्रशस्त मन विनय है। उपरोक्त बारह भेदों से विपरीत प्रशस्त मन विनय के भी बारह भेद होते हैं। इस तरह मन विनय के २४ भेद होते हैं।

दूसरी तरहसे मन विनय के १४ भेद किये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—मन विनय के दो भेद—प्रशस्त मन विनय और अप्रशस्त मन विनय। प्रशस्त मन विनय के सात भेद हैं—

(१) अपावए—मन की पाप रहित प्रवृत्ति।

(२) असावज्जे (असावद्य) – क्रोधाधि दोषरहित मन की प्रवृत्ति।

(३) अकिरिए (अक्रिय) – कायिक आदि क्रिया में आसक्ति रहित मन की प्रवृत्ति।

(४) णिरुवक्केसे (निरूपक्लेश)—शोकादि रहित मन की प्रवृत्ति।

(५) अणण्हवकरे (अनाश्रव कर) आश्रव रहित मन की प्रवृत्ति।

(६) अच्छविकरे (अच्छविकर) अपने को तथा दूसरे प्राणियों को पीडित न करना।

(७) अभूयाभिसंकणे (अभूताभिशंकृत)—जीवों को भय उत्पन्न करने वाला।

ये प्रशस्त मन विनय के सात भेद हैं। इनसे विपरीत

अप्रशस्त मन विनय के सात भेद हैं। यथा-(१) पावए-पाप-कारी। (२) सावज्जे-सावद्य, दोष युक्त। (३) सकिरिए-कायकी आदि क्रियाओं में आसक्ति पूर्वक मन की प्रवृत्ति। (४) सउवक्केसे (सउपक्लेश)-शोकादि उपक्लेश सहित मन की प्रवृत्ति। (५) अण्हवकरे (आश्रवकर)-आश्रव सहित। (६) छविकरे-अपने तथा दूसरों को पीडा पहुंचाने वाली मन की प्रवृति। (७) भूयाभिसंकणे (भूताभिशंकत)-जीवों के भय उत्पन्न करने वाली मन की प्रवृत्ति।

प्र० वचन विनय किसे कहते हैं?

उ० आचार्य आदि का वचन से विनय करना, वचन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा शुभ प्रवृत्ति में लगाना।

मन विनय की तरह वचन विनय के भी २४ भेद होते हैं। दूसरी तरह इसके भी मन विषय की तरह १४ भेद भी होते हैं।

प्र० काय विनय किसे कहते हैं?

उ० काया से आचार्य आदि का विनय करना, काया की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना और शुभ प्रवृत्ति करना। इसके दो भेद हैं-

प्रशस्त काय विनय और अप्रशस्तकाय विनय। प्रशस्त काय विनय के ७ भेद हैं-

(१) आउत्तं गमणं (आयुक्त गमन) सावधानतापूर्वक जाना।

(२) आउत्तं ठाणं (आयुक्त स्थान)–सावधानतापूर्वक ठहरना, (खडे रहना) ।

(३) आउत्तं णिसीयणं (आयुक्तनिषीदन)–सावधानतापूर्वक बैठना ।

(४) आउत्तं तुयट्टणं (आयुक्त त्यग्वर्तन)–सावधानतापूर्वक लेटना।

(५) आउत्तं उल्लंघणं (आयुक्त उल्लंघन)–सावधानतापूर्वक उल्लंघन करना।

(६) आउत्तं पल्लंघणं (आयुक्त प्रलंघन)–सावधानतापूर्वक वार वार लंघना।

(७) आउत्तं सव्विंदिय जोग जुंजणया (आयुक्त सर्वेन्द्रिय योग युंजनता)–सभी इन्द्रिय और योगों की सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करना।

अप्रशस्त काय विनय के सात भेद हैं। ऊपर कही हुई सात बातों में असावधानता रखना, अर्थात् गमनागमन, ठहरना, बैठना, सोना, उल्लघन करना, वार वार उल्लघन करना, सभी इन्द्रिय एवं योगों को प्रवृत्ति में असावधानता (अणाउत्त–अनायुक्त) रखना।

इस प्रकार काय विनय के ये चौदह भेद हुए।

प्र० लोकोपचार विनय किसे कहते हैं ?

उ० दूसरों को सुख पहुंचे, इस तरह की बाह्य क्रियाएं करना लोकोपचार विनय कहलाता है। इसके सात भेद हैं—

(१) अब्भास वत्तियं (अभ्यास वृत्तिता)–गुरु आदि के पास रहना और अभ्यासमें प्रेम रखना।

(२) परच्छंदाणुवत्तियं (परच्छन्दानुवर्तिता)–गुरु आदि बड़ो की इच्छानुसार कार्य करना।

(३) कज्जहेउं (कार्यहेतु)–उनके द्वारा किये हुए ज्ञान-दानादि कार्य के लिए उन्हें विशेष मानना, उन्हें आहारादि लाकर देना।

(४) कयपडिकत्तया (कृत प्रतिक्रिया)–अपने ऊपर किये हुए उपकार का बदला चुकाना अथवा 'आहार आदि के द्वारा गुरु की शुश्रुषा करने से वे प्रसन्न होंगे और उसके बदलेमें वे मुझे ज्ञान सिखावेंगे' ऐसा समझकर उनकी विनय-भक्ति करना।

(५) अत्तगवेसणया (आर्त्तगवेषणता)–बीमार साधुओं की सारसम्भाल करना।

(६) देसकालण्णया (देश कालानुज्ञता)–अवसर देख कर कार्य करना।

(७) सव्वत्थेसु अपडिलोमया (सर्वार्थ अप्रतिलोमता)–सब कार्यों में गुरु महाराज के अनुकूल प्रवृत्ति करना।

ये लोकोपचार विनय के सात भेद हैं।

विनय के सात भेदों के अनुक्रम से–ज्ञानविनय के ५, दर्शन विनय के ५५, चारित्रविनय के ५, मन विनय के २४, वचन विनय के २४, कायविनय के १४ और लोकोप-

चार विनय के ७। ये कुल मिला कर १३४ भेद हुए।

दूसरी तरह से विनय के ५२ भेद भी होते हैं। वे इस प्रकार हैं।

तीर्थङ्कर, सिद्ध, कुल, गण, संघ, क्रिया, धर्म, ज्ञान, ज्ञानी, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर और गणी इन तेरह की (१) आशातना न करना (२) भक्ति करना (३) बहुमान करना अर्थात् उनके प्रति पूज्यभाव रखना (४) इनके गुणों की प्रशंसा करना। इस तरह चार प्रकार से इन तेरह का विनय किया जाता है। तेरह को चार से गुणा करने से विनय के ५२ भेद होते हैं।

अब वैयावृत्य (वैयावच्च) का वर्णन किया जाता है।

प्र० वैयावृत्य किसे कहते हैं?

उ० गुरु, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित आदि को विधिपूर्वक आहारादि लाकर देना वैयावृत्य (वैयावच्च) कहलाता है। वैयावृत्य के दस भेद हैं। ये इस प्रकार हैं—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान (रोगी), शैक्षक अर्थात् नवदीक्षित, कुल, (एक आचार्य का शिष्यपरिवार) गण (समूह), संघ और साधर्मिक (समान धर्म वाले) इन दस की वैयावृत्य करना।

अब स्वाध्याय का वर्णन किया जाता है।

प्र० स्वाध्याय किसे कहते हैं?

उ० अस्वाध्याय काल टाल कर मर्यादापूर्वक शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन आदि करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय के

पांच भेद हैं-(१) वाचना (२) पृच्छना (३) परिवर्तना, (४) अनुप्रेक्षा (५) धर्मकथा।

(१) वाचना-शिष्य को सूत्र अर्थ पढाना वाचना है।

(२) पृच्छना-वाचना ग्रहण करके उसमें सन्देह होने पर पुनः पूछना पृच्छना है। अथवा पहले सीखे हुए सूत्रादि ज्ञान में शङ्का होने पर प्रश्न करना पृच्छना है।

(३) परिवर्तना-पढा हुआ ज्ञान भूल न जाय इसलिए उसे बार बार फेरना परिवर्तना कहलाती है।

(४) अनुप्रेक्षा-सीखे हुए सूत्र के अर्थका विस्मरण न हो जाय इसलिए उसका बारबार मनन करना, विचारना अनुप्रेक्षा कहलाती है।

(५) धर्मकथा-उपरोक्त चारों प्रकार से शास्त्र का अभ्यास करने पर श्रोताओं को शास्त्रों का व्याख्यान सुनाना, धर्मोपदेश देना 'धर्मकथा' कहलाती है।

सूत्र की वाचना देने के पांच बोल हैं अर्थात् गुरु महा- पांच बोलों से शिष्य को सूत्र सिखावें—

(१) शिष्यों को शास्त्र ज्ञान का ग्रहण हो और इनके श्रुत का संग्रह हो इस प्रयोजन से शिष्यों को वाचना देवें।

(२) उपकार के लिए शिष्यों को वाचना देवे। इस प्रकार शास्त्र सिखाये हुए शिष्य आहार पानी, वस्त्रादि को शुद्ध गवेषणा द्वारा प्राप्त कर सकेंगे और संयम में सहायक होंगे।

(३) 'सूत्रों की वाचना देने से मेरे कर्मों की निर्जरा होगी' यह विचार कर वाचना देवे।

(४) 'वाचना देने से मेरा सूत्र ज्ञान ताजा और स्पष्ट हो जायगा,' यह सोच कर वाचना देवे।

(५) शास्त्र का व्यवच्छेद न हो और शास्त्र की परम्परा चलती रहे, इस प्रयोजन से वाचना देवे।

सूत्र सीखने के पांच स्थान हैं अर्थात् निम्न लिखित पांच बातों के लिए सूत्र सिखना चाहिये।

(१) तत्त्वों के ज्ञान के लिए सूत्र सीखे।

(२) तत्त्वों पर श्रद्धा करने के लिए सूत्र सीखे।

(३) चारित्र पालन के लिए सूत्र सीखे।

(४) मिथ्याभिनिवेश (झूठा आग्रह)–छोडने के लिए अथवा दूसरों से छुडवाने के लिए सूत्र सीखे।

(५) सूत्र सीखने से यथावस्थित द्रव्य एवं पर्यायों का ज्ञान होगा, इस विचार से सूत्र सीखे।

शिक्षा प्राप्ति में अर्थात् सूत्रार्थ सीखने में पांच बातें बाधक होती हैं, यथा–(१) अभिमान, (२) क्रोध, (३) प्रमाद, (४) रोग (५) आलस्य। ये पांच बातें जिस प्राणी में हो वह शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता है अतः शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक प्राणी को उपरोक्त पांच बातों का परित्याग कर शिक्षा प्राप्ति में उद्यम करना चाहिये।

अब ध्यान का वर्णन किया जाता है।

प्र० ध्यान किसे कहते हैं?

उ० एक लक्ष्य पर चित्त को एकाग्र करना ध्यान है।

अथवा—छद्मस्थों का अन्तर्मुहूर्त परिमाण एक वस्तु पर चित्त को स्थिर रखना ध्यान कहलाता है। एक वस्तु से दूसरी वस्तु में ध्यान के संक्रमण होने पर ध्यान का प्रवाह चिरकाल तक भी हो सकता है। जिन भगवान् का तो योगों का निरोध करना ध्यान कहलाता है। ध्यान के चार भेद हैं—

(१) आर्त्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान।

प्र० आर्त्तध्यान किसे कहते हैं?

उ० आर्त्त अर्थात् दुःख के निमित्त से या दुःखमें होने वाला ध्यान आर्त्तध्यान कहलाता है अथवा दुःखी प्राणी का ध्यान आर्त्तध्यान कहलाता है। अथवा—मनोज्ञ वस्तु के वियोग और अमनोज्ञ वस्तु के संयोग आदि कारण से चित्त की घबराहट आर्त्तध्यान है। अथवा—जीव मोहवश राज्य का उपभोग, शयन, आसन, वाहन, स्त्री, गन्ध, माला, रत्न, आभूषण आदि में जो अतिशय इच्छा करता है वह आर्त्तध्यान है। इसके चार भेद हैं—

(१) अमनोज्ञ वियोग चिन्ता—अमनोज्ञ शब्द रूप गन्ध रस स्पर्श विषय और उनकी साधनभूत वस्तुओं का संयोग होने पर उनके वियोग (दूर होने) की चिन्ता करना तथा भविष्य

में भी इनका संयोग न हो ऐसी इच्छा रखना आर्त्तध्यान का पहला भेद है। इस आर्त्तध्यान का कारण द्वेष है।

(२) मनोज्ञ संयोग चिन्ता–पांचों इन्द्रियों के मनोज्ञ विषय एवं उनके कारण रूप माता, पिता, भाई, स्वजन, स्त्री, पुत्र और धन तथा साता वेदना के संयोग में उनका वियोग (अलग) न होने का अध्यवसाय करना तथा भविष्य में भी उनके संयोग की इच्छा करना आर्त्तध्यान का दूसरा भेद है। इसका मूल कारण राग है।

(३) रोग चिन्ता–शूल, शिरदर्द आदि रोग–आतङ्क होने पर उनकी चिकित्सा में व्याकुल प्राणी का उनके वियोग के लिए चिन्तन करना तथा रोगादि के अभाव में भविष्य के लिये रोगादि के संयोग न होने की चिन्ता करना आर्त्तध्यान का तीसरा भेद है।

(४) निदान (नियाणा)–देवेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव के रूप और ऋद्धि आदि को देखकर या सुनकर उनमें आसक्ति लाना और यह सोचना कि मैंने जो तप संयम आदि धर्म कार्य किये हैं उनके फलस्वरूप मुझे भी उक्त रूप ऋद्धि आदि प्राप्त हो, इस प्रकार अधम निदान की चिन्ता करना आर्त्तध्यान का चौथा भेद है। इस आर्त्तध्यान का मूल कारण अज्ञान है, क्यों कि अज्ञानियों के सिवाय औरों को सांसारिक सुखों में आसक्ति नहीं होती। ज्ञानी पुरुषों के चित्त में तो सदा मोक्ष की ही लगन बनी रहती है।

राग द्वेष युक्त प्राणी का यह चार प्रकार का आर्त्तध्यान संसार को बढानेवाला और सामान्यतः तिर्यञ्च गति में ले जानेवाला होता है।

आर्त्तध्यान के चार लिङ्ग हैं—

(१) आक्रन्दन—ऊंचे स्वर से रोना और चिल्लाना आक्रन्दन है।

(२) शोचन–आंखों में आंसू लाकर दीनभाव लाना शोचन है।

(३) परिदेवना–बार बार क्लिष्ट भाषण करना, विलाप करना परिदेवना है।

(४) तेपनता–टपटप आंसू गिराना तेपनता है।

इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग और वेदना के निमित्त से ये चार चिन्ह (लिङ्ग) आर्त्तध्यानी के होते हैं।

प्र० रौद्रध्यान किसे कहते हैं ?

उ० हिंसा, झूठ, चोरी, धन आदि की रक्षा में मन को जोड़ना रौद्रध्यान है। अथवा–हिंसा आदि विषय का अति क्रूर परिणाम रौद्रध्यान है। अथवा हिंसामें प्रवृत्त आत्मा द्वारा प्राणियों को रुलानेवाले व्यापार का चिन्तन करना रौद्रध्यान है अथवा छेदना, भेदना, काटना, मारना, वध करना, प्रहार करना, दमन करना इनमें जो राग करता है और जिस में अनुकम्पा भाव नहीं है उस पुरुष का ध्यान रौद्रध्यान कहलाता है। इसके चार भेद हैं—

(१) हिंसानुबन्धी—प्राणियों को चाबुक आदि से मारना, कील आदि से नाक वगैरह को बांधना, रस्सी जंजीर आदि से बांधना, अग्नि में डालना, डाम लगाना, तलवार आदि से प्राणवध करना अथवा उपरोक्त कार्य न करते हुए भी क्रोध के वश हो कर निर्दयतापूर्वक इन हिंसाकारी कामों का निरन्तर चिन्तन करते रहना हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान है।

(२) मृषानुबन्धी—मायावी—दूसरों को ठगने की प्रवृत्ति करनेवाले तथा छिप कर पापाचरण करनेवाले पुरुषों के अनिष्टसूचक वचन, असभ्य वचन, असत् अर्थ का प्रकाशन, सत् अर्थका अपलाप एवं एक के स्थानपर दूसरे पदार्थ आदि का कथन रूप असत्य वचन एवं प्राणियों का उपघात करने वाले वचन कहना या कहने का निरन्तर चिन्तन करना मृषानुबन्धी रौद्रध्यान है।

(३) चौर्यानुबन्धी—तीव्र क्रोध और लोभ से व्याकुल चित्तवाले पुरुष की प्राणियों के उपघातक, अनार्य काम (पर द्रव्य हरण) आदि में निरन्तर चित्तवृत्ति का होना चौर्यानुबन्धी रौद्रध्यान कहलाता है।

(४) सरक्षणानुबन्धी—शब्दादि पांच विषय के साधनभूत धन की रक्षा करने की चिन्ता करना एवं 'न मालूम दूसरा क्या करेगा' इस आशंका से दूसरों का उपघात करने की कषाययुक्त चित्तवृत्ति रखना संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान है।

हिंसा, झूठ, चोरी और संरक्षण स्वयं करना, दूसरों से

करवाना और करते हुए की अनुमोदना करना तथा इन तीनोंका कारणविषयक चिन्तन करना रौद्रध्यान है। रागद्वेष से व्याकुल जीव के यह चारों प्रकार का रौद्रध्यान होता है। यह ध्यान संसार को बढानेवाला और प्रायः नरकगति में ले जानेवाला है।

रौद्रध्यान के चार लिङ्ग (लक्षण, चिन्ह) हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) ओसन्न दोष–रौद्रध्यानी हिंसा से निवृत्त न होने से बहुलतापूर्वक हिंसादि में से किसी एक में प्रवृत्ति करता है यह ओसन्न दोष है।

(२) बहुल दोष–रौद्रध्यानी हिंसादि सभी दोषों में प्रवृत्ति करता है यह बहुल दोष है।

(३) अज्ञानदोष–अज्ञान से कुशास्त्र के संस्कार से नरकादि के कारण अधर्म स्वरूप हिंसादि में धर्मबुद्धि से उन्नति के लिए प्रवृत्ति करना अज्ञान दोष है।

अथवा

नाना दोष—हिंसादि के विविध उपायों में अनेक बार प्रवृत्ति करना नाना दोष है।

(४) आमरणान्त दोष–मरण पर्यन्त क्रूर हिंसादि कार्यों में अनुताप (पश्चात्ताप) न होना एवं हिंसादि में प्रवृत्ति करते रहना आमरणान्त दोष है। जैसे–काल सौकरिक कसाई।

कठोर एवं संक्लिष्ट परिणाम वाला रौद्रध्यानी दूसरे के दुःखमें प्रसन्न होता है। ऐहिक और पारलौकिक भयसे रहित होता है। उसके मनमें अनुकम्पाभाव लेश मात्र भी नहीं होता। अकार्य करके भी उसे पश्चात्ताप नहीं होता। पाप-कार्य करके वह प्रसन्न होता है।

प्र० धर्मध्यान किसे कहते हैं?

उ० धर्म अर्थात् आज्ञादि पदार्थ स्वरूप के पर्यालोचन में मन को एकाग्र करना धर्मध्यान है। अथवा—श्रुतचारित्र धर्म सहित ध्यान धर्मध्यान है। अथवा—सूत्रार्थ की साधना करना, महाव्रतों को धारण करना, बन्ध, मोक्ष, गति, आगति के हेतुओं का विचार करना, पांच इन्द्रियों के विषयों से निवृत्ति और प्राणियों में दया भाव, इन में मन की एकाग्रता का होना धर्मध्यान है। इसके चार भेद हैं।

(१) आज्ञाविचय—जिनाज्ञा (भगवान् की आज्ञा—जिन प्रवचन) को सत्य मान कर उस पर पूर्ण श्रद्धा रखना एवं उसमें प्रतिपादित तत्त्वों का चिन्तन और मनन करना। वीत-राग प्रतिपादित तत्त्वों में से कोई तत्त्व समझ में न आवे तो यह विचार करे कि ये वचन वीतराग सर्वज्ञ भगवान् श्री जिनेश्वर द्वारा कथित है इसलिए सर्व प्रकारेण सत्य ही हैं। इसमें सन्देह नहीं। वीतरागी पुरुषों के वचन सत्य ही होते हैं क्यों कि उनके असत्य कथन का कोई कारण नहीं है। इस तरह वितराग वचनों का चिन्तन मनन करना, उनमें

सन्देह न करना, उनमें मन को एकाग्र करना आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है।

(२) अपाय विचय-राग, द्वेष, कषाय, मिथ्यात्व, अविरति आदि आश्रय और क्रियाओं से होने वाले ऐहिक और पारलौकिक कुफल और हानियों का विचार करना, चिन्तन करना अपाय विचय धर्मध्यान है।

इन दोषों से होने वाले कुफल का चिन्तन करने वाला जीव इन दोषों से अपनी आत्मा की रक्षा करने में सावधान रहता है एवं इनसे दूर रहते हुए आत्म कल्याण का साधन करता है।

(३) विपाक विचय-शुद्ध आतमा का स्वरूप ज्ञान दर्शन सुख आदि रूप है। फिर भी कर्मवश उसके निजी गुण दबे हुए हैं। कर्मों के वश होकर यह संसार में चारों गतियों में भ्रमण कर रही है। संपत्ति, विपत्ति, संयोग, वियोग आदि से होने वाले सुख दुःख जीव के पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मों का ही फल है। स्वोपार्जित कर्मों के सिवाय कोई भी इस आत्माको सुखदुःख देनेवाला नहीं है, इस प्रकार कर्म विषयक चिन्तन में मन को लगाना विपाक विचय धर्मध्यान है।

(४) संस्थान विचय-धर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्य और उनकी पर्याय, जीव, अजीव के आकार, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, लोक का स्वरूप, पृथ्वी, द्वीप, सागर, नरक, स्वर्ग आदि के आकार, लोक स्थिति, जीव की गति, आगति,

जीवन, मरण आदि शास्त्रोक्त पदार्थों का चिन्तन करना तथा इस अनादि अनन्त संसार सागर से पार करने वाली ज्ञान दर्शन चारित्र तप संवर रूप नौका का विचार करना, इत्यादि रूप से शास्त्रोक्त पदार्थों के चिन्तन मनन में मन को एकाग्र करना संस्थान विचय धर्मध्यान है।

धर्मध्यान के चार लिङ्ग (लक्षण, चिन्ह) है वे इस प्रकार है—

(१) आज्ञा रूचि-शास्त्रोक्त अर्थों पर रूचि रखना आज्ञा रूचि है।

(२) निसर्ग रूचि-किसी के उपदेश के विना, स्वभाव से ही जिन भाषित तत्त्वों पर श्रद्धा होना निसर्ग रूचि है।

(३) सूत्र रूचि-सूत्र अर्थात् आगम द्वारा वितराग प्रतिपादित तत्त्वों पर श्रद्धा करना सूत्र रूचि है।

(४) अवगाढ रूचि (उपदेश रूचि)-द्वादशाङ्ग का विस्तार पूर्वक ज्ञान करके जिन प्रणीत भावों पर जो श्रद्धा होती है वह अवगाढ रूचि है। अथवा-साधु के सूत्रानुसारी उपदेश से जो श्रद्धा होती है वह अवगाढ रूचि (उपदेश-रूचि) है।

तात्पर्य यह है कि तत्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्त्व ही धर्मध्यान का लिङ्ग है।

जिनेश्वर देव एवं साधु मुनिराज के गुणों का कथन करना, भक्ति पूर्वक उनकी प्रशंसा और स्तुति करना, गुरु

आदि का विनय करना, दान देना, श्रुत, शील एवं संयम में अनुराग रखना, ये धर्मध्यान के चिन्ह हैं। इनसे धर्मध्यानी पहिचाना जाता है।

धर्मध्यान रूपी प्रासाद (महल) पर चढ़ने के चार अवलम्वन हैं—

(१) वाचना-निर्जरा के लिए शिष्य को सूत्रार्थ पढाना वाचना है।

(२) पृच्छना-सूत्रार्थ में शंका होने पर उसका निवारण करने के लिए गुरु महाराज से पूछना पृच्छना है।

(३) परिवर्त्तना-पहले पढ़े हुए सूत्रादि भूल न जाय इसलिए तथा निर्जरा के लिए उनकी आवृत्ति करना, अभ्यास करना परिवर्त्तना है।

(४) *अनुप्रेक्षा-सूत्रार्थ का चिन्तन एवं मनन करना अनुप्रेक्षा है। (ठाणांग सूत्र ठाणा ४ उद्देशक १)

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) एकत्व भावना-" इस संसार में मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हुं,। ऐसा कोई भी ... दिखाई नहीं देता जो भविष्य में मेरा होने वाला हो

*भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशक ७ में धर्मध्यान के चार आलम्वन इस प्रकार वतलाये गये हैं-(१) वाचना, (२) पृच्छना, (३) परिवर्त्तना, (४) धर्मकथा-धर्म कथा कहना, धर्मोपदेश देना।

अथवा मैं जिसका बन सकूँ" इत्यादि रूप से आत्मा के एकत्व अर्थात् असहायपन की भावना करना एकत्व भावना है।

(२) अनित्य भावना–शरीर अनेक विघ्न बाधाओं एवं रोगों का स्थान है। सम्पत्ति विपत्ति का स्थान है, संयोग के साथ वियोग लगा हुआ है। उत्पन्न होने वाला प्रत्येक पदार्थ नश्वर (नष्ट होने वाला) है। इस प्रकार शरीर, जीवन तथा संसार के सभी पदार्थों के अनित्य स्वरूप पर विचार करना अनित्यत्व भावना है।

(३) अशरण भावना–जन्म, जरा, मृत्यु के भय से भयभीत, व्याधि एवं वेदना से पीड़ित जीव का इस संसार में कोई त्राण रूप नहीं है। यदि कोई आत्मा का त्राण करने वाला है तो जिनेन्द्र भगवान् के प्रवचन ही एक त्राण शरण रूप है। इस प्रकार आत्मा के त्राण–शरण के अभाव का चिन्तन करना अशरण भावना है।

(४) संसार भावना–इस संसार में माता बनकर वही जीव, पुत्री, बहिन और स्त्री बन जाता है। पुत्र का जीव पिता भाई यहां तक की शत्रु बन जाता है। इस प्रकार चार गति में सभी अवस्थाओं में संसार के विचित्रतापूर्ण स्वरूप का विचार करना संसार भावना है।

दूसरी तरह से धर्मध्यान के चार और भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) पिण्डस्थ—पार्थिवी, आग्नेयी आदि पांच धारणाओं का एकाग्रता से चिन्तन करना पिण्डस्थध्यान है।

(२) पदस्थ—नाभि में सोलह पांखडी के, हृदय में चौबीस पांखडी के तथा मुख पर आठ पांखडी के कमल की कल्पना करना और प्रत्येक पांखडी पर वर्णमाला के अ, आ, इ, ई आदि अक्षरों की अथवा पञ्च परमेष्ठी मन्त्र के अक्षरों की स्थापना करके एकाग्रता पूर्वक उनका चिन्तन करना अर्थात् किसी पद के आश्रित होकर मन को एकाग्र करना पदस्थ धर्मध्यान है।

(३) रूपस्थ—शास्त्रोक्त अरिहन्त भगवान् की शान्त दशा (अवस्था) को हृदय में स्थापित करके स्थिर चित्त से उसका ध्यान करना रूपस्थ धर्मध्यान है।

(४) रूपातीत—रूप रहित निरंजन निराकार निर्मल सिद्ध भगवान् का आलम्बन लेकर उसके साथ आत्मा की एकता का चिन्तन करना रूपातीत धर्मध्यान है।

प्र० शुक्ल ध्यान किसे कहते हैं?

उ० पूर्व विषयक श्रुत के आधार से मन की अत्यन्त स्थिरता और योग का निरोध शुक्ल ध्यान कहलाता है। अथवा—जो ध्यान आठ प्रकार के कर्म मल को दूर करता है। अथवा—जो शोक को नष्ट करता है वह शुक्लध्यान है। तात्पर्य यह है, कि पर आलम्बन के बिना शुक्ल अर्थात् निर्मल आत्म स्वरूप का तन्मयतापूर्वक चिन्तन करना शुक्लध्यान है।

अथवा—

जिस ध्यान में विषयों का सम्बन्ध होने पर भी वैराग्य-बल से चित्त बाहरी विषयों की ओर नहीं जाता तथा शरीर का छेदन भेदन होने पर भी स्थिर हुआ चित्त ध्यान से लेश मात्र भी नहीं डिगता उसे शुक्लध्यान कहते हैं।

शुक्लध्यान के चार भेद हैं। ये इस प्रकार हैं—

(१) पृथक्त्व वितर्क सविचारी—एक द्रव्य विषयक अनेक पर्यायों का पृथक् पृथक् रूप से विस्तारपूर्वक पूर्वगत श्रुत के अनुसार द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदि नयों से चिन्तन करना पृथक्त्व वितर्क सविचारी शुक्ल ध्यान है। यह ध्यान विचार सहित होता है। विचार का स्वरूप है—अर्थ, व्यञ्जन (शब्द) एवं योगोंमें संक्रमण। अर्थात् इस ध्यान में अर्थ से शब्द में, शब्द से अर्थ में, शब्द से शब्द में और अर्थ से अर्थ में एवं एक योग से दूसरे योग में संक्रमण होता है।

पूर्वगत श्रुत के अनुसार विविध नयों से पदार्थों की पर्यायों का भिन्न भिन्न रूप से चिन्तन रूप यह शुक्लध्यान पूर्वधारी को होता है। और मरुदेवी माताकी तरह जो पूर्वधर नहीं है उन्हें अर्थ, व्यञ्जन एवं योगोंमें परस्पर संक्रमण रूप यह शुक्लध्यान होता है।

(२) एकत्व वितर्क अविचारी—पूर्वगत श्रुत का आधार लेकर उत्पाद आदि पर्यायों के एकत्व (अभेद) से किसी एक पदार्थ का अथवा पर्याय का स्थिर चित्त से चिन्तन करना

एकत्ववितर्क अविचारी है। इसमें अर्थ, व्यञ्जन और योगों का सक्रमण नह होता। जिस तरह वायु रहित एकान्त स्थान में दीपक की लौ स्थिर रहती है। इसी प्रकार इस ध्यान में चित्त स्थिर रहता है।

(३) सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती–मोक्ष जाने से पहले केवली भगवान् मन और वचन इन दो योगों का तथा अर्द्ध काय-योग का भी निरोध कर लेते हैं। उस समय केवली भगवान् के कायिकी, उच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रिया ही रहती है। परिणामों में विशेष बढे चढे रहने से केवली यहां से पीछे नहीं हटते। यह तीसरा सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती शुक्लध्यान है।

(४) समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती–शैलेशी अवस्था को प्राप्त केवली भगवान् सभी योगों का निरोध कर लेते हैं। योगों के निरोध से सभी क्रियाएं नष्ट हो जाती हैं। यह ध्यान सदा बना रहता है। इसलिए इसे समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती शुक्लध्यान कहते हैं।

पृथक्त्व वितर्क सविचारी शुक्लध्यान सभी योगों में होता है। एकत्व वितर्क अविचारी शुक्लध्यान किसी एक ही योग में होता है। सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती शुक्लध्यान केवल काय-योग में होता है। चौथा समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती शुक्ल-ध्यान अयोगी को ही होता है। छद्मस्थ के मन को निश्चल करना ध्यान कहलाता है और केवली के काया को निश्चल करना ध्यान कहलाता है।

शुक्लध्यान के चार लिङ्ग (चिन्ह, लक्षण) हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) अव्यथ-शुक्लध्यानी परीषह-उपसर्गों से डर कर ध्यान से चलित नहीं होता। इसलिए वह अव्यथ लिङ्ग वाला है।

(२) असम्मोह-शुक्लध्यानी को अत्यन्त गहन सूक्ष्म विषयों में अथवा देवादि कृत माया में सम्मोह नहीं होता है। इसलिए वह असम्मोह लिङ्ग वाला है।

(३) विवेक-शुक्लध्यानी आत्मा को देह से भिन्न और सब संयोगों को आत्मा से भिन्न समझता है। इसलिए वह विवेक लिङ्ग वाला है।

(४) व्युत्सर्ग-शुक्लध्यानी निस्संग रूप से देह और उपाधि का त्याग करता है। इसलिए वह व्युत्सर्ग लिङ्गवाला है।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति इन चार आलम्बनों से जीव शुक्लध्यान पर चढ़ता है।

(१) क्षमा-क्रोध न करना, उदय में आये हुए क्रोध को विफल कर देना। इस प्रकार क्रोध का त्याग क्षमा है।

(२) मार्दव-मान न करना, उदय में आये हुए मान को विफल कर देना। इस प्रकार मान का त्याग मार्दव है।

(३) आर्जव-माया को उदय में न आने देना एवं उदय में आई हुई माया को विफल कर देना। इस प्रकार माया का त्याग आर्जव (सरलता) है।

(४) मुक्ति–उदय में आये हुए लोभको विफल करना। इस प्रकार लोभ का त्याग मुक्ति (शौच, निर्लोभता) है।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं (भावनाएं) हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) अनंत वर्तितानुप्रेक्षा–भव परंपरा की अनंतता की भावना करना। जैसे–यह जीव अनादि कालसे संसारमें चक्कर लगा रहा है, समुद्र की तरह इस संसारके पार पहुचना उसे दुष्कर हो रहा है। वह नरक तिर्यञ्च, मनुष्य और देव भवों में लगातार एक के बाद दूसरे में बिना विश्राम के परिभ्रमण कर रहा है। इस प्रकार की भावना अनन्त वर्तितानुप्रेक्षा है।

(२) विपरिणामानुप्रेक्षा–वस्तुओं के विपरिणमन पर विचार करना। जैसे कि, सर्व स्थान अशाश्वत हैं। क्या यहां के और क्या देवलोक के! मनुष्य एवं देव आदि की ऋद्धियों और सुख अस्थायी हैं, इस प्रकारकी भावना विपरिणामानुप्रेक्षा है।

(३) अशुभानुप्रेक्षा–संसार के अशुभ स्वरुप पर विचार करना। जैसे कि–इस संसार को धिक्कार है जिसमें एक सुन्दर रुप वाला अभिमानी पुरुप मर कर अपने ही मृतशरीर में कृमि (कीडे) रूप से उत्पन्न हो जाता है। इत्यादि रुप से भावना करना अशुभानुप्रेक्षा है।

(४) अपायानुप्रेक्षा–आश्रवों से होने वाले जीवों को दुःख देने वाले विविध अपायों का चिन्तन करना। जैसे कि–वशमें नहीं किये हुए क्रोध और मान, बढती हुई माया और लोभ ये चारों ससार के मूल को सींचने वाले हैं अर्थात्

संसार को बढ़ाने वाले हैं। इत्यादि रूप से आश्रव से होने वाले अपायों का चिन्तन करना अपायानुप्रेक्षा है।

इस प्रकार ध्यान के ४८ भेद होते हैं—

आर्त्तध्यान के ८, रौद्रध्यान के ८, धर्मध्यान के १६ और शुक्लध्यान के १६। ये कुल मिलाकर ४८ भेद हुए।

चार ध्यानों में से धर्मध्यान और शुक्लध्यान, ये दो ध्यान निर्जरा के कारण हैं। अतः ग्राह्य हैं। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान, ये दो ध्यान कर्मबन्ध एवं संसार वृद्धि के कारण हैं। अतः त्याज्य हैं।

अब व्युत्सर्ग का वर्णन किया जाता है।

प्र० व्युत्सर्ग किसे कहते हैं ?

उ० ममत्व का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। इसके सामान्यतः दो भेद हैं—द्रव्य व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग। द्रव्य व्युत्सर्ग के चार भेद हैं—

(१) शरीर व्युत्सर्ग—ममत्व रहित होकर शरीर का त्याग करना।

(२) गण व्युत्सर्ग—अपने गण (गच्छ) का त्याग करके 'जिन कल्प' स्वीकार करना।

(३) उपधि व्युत्सर्ग—किसी कल्प विशेष में उपधि का त्याग करना।

(४) भक्त पान व्युत्सर्ग—सदोष आहार पानी का त्याग करना।

भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद हैं—

(१) कषाय व्युत्सर्ग—कषाय का त्याग करना। इसके चार भेद हैं—क्रोध व्युत्सर्ग, मान व्युत्सर्ग, माया व्युत्सर्ग और लोभ व्युत्सर्ग।

(२) संसार व्युत्सर्ग—नरक आदि आयुबन्ध के कारण मिथ्यात्व आदि का त्याग करना। इसके चार भेद हैं—नैर-यिक संसार व्युत्सर्ग, तिर्यञ्च संसार व्युत्सर्ग, मनुष्य ससार व्युत्सर्ग और देव संसार व्युत्सर्ग।

(३) कर्म व्युत्सर्ग — कर्मबन्ध के कारणों का त्याग करना। इसके आठ भेद हैं—ज्ञानावरणीय कर्म व्युत्सर्ग, दर्शना-वरणीय कर्म व्युत्सर्ग, वेदनीय कर्म व्युत्सर्ग, मोहनीय कर्म व्युत्सर्ग, आयुष्य कर्म व्युत्सर्ग, नाम कर्म व्युत्सर्ग, गोत्र कर्म व्युत्सर्ग और अन्तराय कर्म व्युत्सर्ग।

कहीं कहीं भाव व्युत्सर्ग के चार भेद बतलाये गये हैं। वहां चौथा भेद योग व्युत्सर्ग बतलाया गया है। योगों का त्याग करना योगव्युत्सर्ग है। इसके तीन भेद है—मनयोग, व्युत्सर्ग, वचनयोग व्युत्सर्ग और काय योग व्युत्सर्ग।

ये व्युत्सर्ग तप के भेद हुए।

आभ्यन्तर तप मोक्ष प्राप्ति में अन्तरङ्ग कारण है। अन्त-र्दृष्टि आत्मा ही इनका सेवन करता है और वही इन्हें तप रूप से मानता है। इनका असर बाह्य शरीर पर नहीं पड़ता किन्तु आभ्यन्तर रागद्वेष कषाय आदि पर पड़ता है। इसलिए उपरोक्त छह प्रकार की क्रियाएं आभ्यन्तर तप कही जाती हैं।

बन्धतत्व

अब बन्ध तत्व का वर्णन किया जाता है—

प्र० बन्ध किसे कहते हैं ?

उ० मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से आत्मप्रदेशों में हलचल होती है तब जिस क्षेत्र में आत्मप्रदेश हैं, उसी क्षेत्र में रहे हुए अनन्तानन्त कर्म योग्य पुद्गल जीव के साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं। जीव और कर्म का यह बन्ध (मेल) ठीक वैसा ही होता है जैसा दूध और पानी का, अग्नि और लोहपिण्ड का। इस प्रकार आत्म-प्रदेशों के साथ कर्मवर्गणा के पुद्गलों का जो सम्बन्ध होता है उसे बन्ध कहते हैं। बन्ध के चार भेद हैं–(१) प्रकृति बन्ध, (२) स्थितिबन्ध, (३)अनुभाग बन्ध और (४)प्रदेश बन्ध।

(१) प्रकृति बन्ध–जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में जुदे जुदे स्वभावों (शक्तियों) का पैदा होना प्रकृति बन्ध कहलाता है।

(२) स्थिति बन्ध–जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गलों में अमुक काल तक अपने स्वभाव को त्याग न करते हुए जीव के साथ रहने की कालमर्यादा को स्थिति बन्ध कहते हैं।

(३) अनुभाग बन्ध–अनुभाग बन्ध को अनुभाव बन्ध और अनुभव बन्ध तथा रस बन्ध भी कहते हैं। जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मपुद्गलों में से इसके तरतम भाव

को अर्थात् फल देने की न्यूनाधिक शक्ति होने को अनुभाग बन्ध कहते हैं।

(४) प्रदेश बन्ध–जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म स्कन्धों का सम्बन्ध होना प्रदेश बन्ध कहलाता है।

चारों बन्धों का स्वरूप समझाने के लिए मोदक (लड्डू) का दृष्टान्त दिया जाता है—

जैसे–सोंठ, पीपर, काली मिर्च आदि से बनाया हुआ (लड्डू) वायुनाशक होता है। इसी प्रकार पित्त नाशक पदार्थों से बना हुआ मोदक पित्त का नाश करने वाला होता है और कफ नाशक पदार्थों से बना हुआ मोदक कफ का नाश करने वाला होता है। इसी प्रकार आत्मा से ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में से किन्हीं में ज्ञान गुण को आच्छादान करने की शक्ति पैदा होती है, किन्हीं में दर्शन गुण का घात करने की, कोई कर्मपुद्गल आत्मा के आनन्द गुण का घात करते हैं तो कोई आत्मा की अनन्त शक्ति का घात करते हैं। इस तरह भिन्न भिन्न कर्म पुद्गलों में भिन्न भिन्न प्रकार की प्रकृतियों के बन्ध होने को प्रकृति बन्ध कहते हैं। जैसे कोई मोदक एक सप्ताह, कोई एक पक्ष, कोई एक मास तक निजी स्वभाव को रखते हैं, इसके बाद ये छोड़ देते हैं अर्थात् विकृत हो जाते हैं। मोदकों की कालमर्यादा की तरह कर्मों की भी कालमर्यादा होती है, इसी को स्थिति-

वन्ध कहते हैं। स्थिति पूर्ण होने पर कर्म आत्मा से अलग हो जाते हैं।

कोई मोदक रस में अधिक मधुर (मीठे) होते हैं तो कोई कम। कोई रस में अधिक कटु होते हैं तो कोई कम। इस प्रकार मोदकों में रसों की न्युनाधिकता होती है। उसी कार कुछ कर्म पुद्गलों में शुभ रस अधिक और कुछ में कम। कुछ कर्म पुद्गलों में अशुभ रस अधिक और कुछ में कम होता है। इसी प्रकार कर्मों में तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम शुभाशुभ रसों का वन्ध होना रस-वन्ध है। यही वन्ध अनुभाग वन्ध (अथवा अनुभाव वन्ध या अनुभव वन्ध) कहलाता है।

कोई मोदक परिमाण में दो तोले का, कोइ पांच तोले का और कोई पाव भर का होता है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न कर्मपुद्गलों में परमाणुओं की संख्या का न्यूनाधिक होना प्रदेशवन्ध कहलाता है।

यहां पर भी जान लेना चाहिये कि जीव संख्यात, अ-संख्यात और अनन्त परमाणुओं से वने हुए कार्माण स्कन्ध को ग्रहण नहीं करता है परन्तु अनन्तानन्त परमाणु वाले स्कन्ध को ग्रहण करता है।

प्रकृति वन्ध और प्रदेश वन्ध योग के निमित्त से होते हैं। स्थिति वन्ध और अनुभाग वन्ध कषाय के निमित्त से वन्धते हैं।

प्रकृति बन्ध की मूल प्रकृतियां आठ हैं। वे इस प्रकार है–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र, अन्तराय। इनकी उत्तर प्रकृतियां १४८ हैं।

(१) ज्ञानावरणीय–जिस प्रकार आँख पर कपड़े की पट्टी लपेटने से वस्तुओं के देखने में रुकावट पड़ती है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव से आत्मा का ज्ञानगुण आच्छादित होता है। अत एव आत्मा को पदार्थ ज्ञान करने में रुकावट पड़ती है।

यहां पर जान लेना चाहिये कि ज्ञानावरणीय कम से ज्ञान आच्छादित होता है परन्तु नष्ट नहीं होता अर्थात यह कर्म आत्मा को सर्वथा ज्ञान शून्य (जड़) नहीं बना देता। जैसे सघन बादलों से सूर्य के ढक जाने पर भी उसका उतना प्रकाश तो अवश्य रहता है कि जिससे दिन रात का भेद समझा जा सके। इ प्रकार चाहे जैसा प्रगाढ ज्ञानावरणीय कर्म क्यों न हो परन्तु उसके रहते हुए भी आत्मा में इतना ज्ञान तो अवश्य रहता है कि वह जड़ पदार्थों से पृथक किया जा सके।

ज्ञान के ५ भेद हैं। इसलिए उनको आच्छादित करने वाले कर्म के भी पांच भेद हैं–मति ज्ञानावरणीय, श्रुत ज्ञानावरणीय, अवधि ज्ञानावरणीय, मनः पर्यय ज्ञानावरणीय और ... ज्ञानावरणीय।

(२) दर्शनावरणीय – दर्शनावरणीय कर्म का स्वभाव द्वारपाल के समान है। जिस प्रकार राज दर्शन चाहने वाले को द्वारपाल रोकता है उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म पदार्थों को देखने में रुकावट डालता है अर्थात् आत्मा की दर्शन-शक्ति को प्रकट नहीं होने देता।

दर्शनावरणीय कर्म के नौ भेद है–(१) चक्षुदर्शनावरणीय (२) अचक्षुदर्शनावरणीय (३) अवधि दर्शनावरणीय (४) केवल दर्शनावरणीय (५) निद्रा (६) निद्रानिद्रा (७) प्रचला (८) प्रचलाप्रचला (९) स्त्यानगृद्धि।

(३) वेदनीय–जो अनुकूल एवं प्रतिकूल विषयों से उत्पन्न सुखदुःख रूप से वेदन अर्थात् अनुभव किया जाय वह वेदनीय कर्म कहलाता है। यों तो सभी कर्मों का वेदन होता है परन्तु साता (सुख) असाता (दुःख) का अनुभव कराने वाले कर्म विशेष में ही वेदनीय रूढ है। इसलिए इससे अन्य कर्मों का बोध नहीं होता है।

वेदनीय कर्म के दो भेद हैं–सात वेदनीय और असाता वेदनीय। सुख का अनुभव कराने वाला कर्म साता वेदनीय कहलाता है और दुःख का अनुभव कराने वाला असाता वेदनीय कहलाता है।

यह कर्म मधुलिप्त (शहद लगी हुई) तलवार को चाटने के समान है। तलवार की धार पर लगी हुई शहद के स्वाद

के समान साता वेदनीय है और धार से जीभ के कटने से होने वाली पीड़ा के समान असातावेदनीय है। सांसारिक सुख दुःख से मिला हुआ है इसलिए निश्चयदृष्टि में पौद्गलिक सुख दुःख रूप ही समझा जाता है। आत्मिक सुख ही वास्तविक–सच्चा सुख है।

(४) मोहनीयकर्म–जो कर्म आत्मा को मोहित करता है अर्थात् भले बुरे के विवेक से शून्य बना देता है वह मोहनीय कर्म है। यह कर्म मद्य (मदिरा, शराब) के समान है। जैसे शराबी मदिरा पीकर भले बुरे का विवेक खो देता है अर्थात् परवश हो जाता है उसी प्रकार मोहनीय कर्म के प्रभाव से जीव सत् असत् के विवेक से रहित होकर परवश हो जाता है।

इस कर्म के दो भेद हैं–दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय दर्शन (समकित) की घात करता है। इसके तीन भेद हैं–मिथ्यात्व मोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्र मोहनीय (सम्यक्मिथ्यात्वमोहनीय)।

चारित्र मोहनीय चारित्र की घात करता है। इसके दो भेद हैं–कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के भेद से प्रत्येक के चार भेद होते हैं। इस तरह कषाय के १६ भेद होते हैं। नोकषाय के नौ भेद हैं–हास्य, रति, अरति, भय, शोक,

जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। इस प्रकार मोहनीय कर्म के कुल मिला कर २८ भेद होते हैं।

(५) आयुकर्म—जिस कर्म के रहते प्राणी जीता है और पूरा होने पर मर जाता है उसे आयुकर्म कहते हैं। अथवा—जिस कर्म से जीव एक गति से दूसरी गति में जाता है वह आयु कर्म कहलाता है। अथवा—जो कर्म प्रति समय भोगा जाय वह आयुकर्म है। अथवा जिसके उदय आने पर भव-विशेष में भोगने लायक सभी कर्म अपना फल देने लगते हैं वह आयुकर्म है।

यह कर्म कारागार (जेलखाना) के समान है। जिस प्रकार राजा की आज्ञा से जेलखाने में डाला हुआ पुरुष वहां से निकलना चाहते हुए भी नियत अवधि के पहले वहां से नहीं निकल सकता, उसी प्रकार आयुकर्म के कारण जीव नियत समय तक अपने शरीर में बंधा रहता है। अवधि पूरी होने पर वह उसको छोड़ता है परन्तु उसके पहले नहीं।

आयु कर्म के चार भेद हैं—नरक आयु, तिर्यञ्च आयु, मनुष्य आयु और देव आयु। आयु कर्म आत्मा के अविनाशित्व गुण को रोकता है।

(६) नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव नरक, तिर्यञ्च आदि नामों से पुकारा जाता है उसे नाम कर्म कहते हैं।

नाम कर्म चित्रकार (चितेरा) के समान है। जैसे

चित्रकार विविध वर्णों से अनेक प्रकार के सुन्दर असुन्दर रूप बनाता है उसी प्रकार नाम कर्म जीव के सुन्दर असुन्दर आदि अनेक रूप करता है। यह कर्म आत्मा के 'अरूपित्व' गुण की घात करता है ।

नाम कर्म की ९३ प्रकृतियाँ हैं–गति ४, नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति, देव गति। जाति ५–एकेन्द्रिय जाति, बेइन्द्रिय जाति, ते इन्द्रिय जाति, चौइन्द्रिय जाति, पञ्चेन्द्रिय जाति। शरीर ५–औदारिक शरीर, वैक्रिय शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर। अङ्गोपाङ्ग ३–औदारिक शरीर अङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय शरीर अङ्गोपाङ्ग, आहारक शरीर अङ्गोपाङ्ग। बन्धन ५ – औदारिक शरीर बन्धन, वैक्रियशरीर बन्धन, आहारक शरीर बन्धन, तैजस शरीर बन्धन, कार्मण शरीर बन्धन। संघात ५ – औदारिक शरीर संघात, वैक्रिय शरीर संघात, आहारक शरीर संघात, तैजस शरीर संघात, कार्मण शरीर संघात। संस्थान ६–समचतुरस्र, न्यग्रोध परिमण्डल, सादि (स्वाति), कुब्जक, वामन, हुण्डक। संहनन ६–वज्रऋषभ नाराच, ऋषभ नाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलक, सेवार्त्त (छेवटिया)। वर्ण ५–काला, नीला, पीला, लाल, सफेद। गन्ध २–सुरभिगन्ध-सुगन्ध, दुरभिगन्ध – दुर्गन्ध। रस ५–खट्टा, मीठा, कड़वा, कषायला, तीखा। स्पर्श ८–गुरू–भारी, लघु–हल्का, शीत–ठण्डा, उष्ण–गर्म, स्निग्ध–चीकना, रूक्ष–रूखा, मृदु–कोमल;

आनुपूर्वी ४-नरकानुपूर्वी, तिर्यञ्चानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी। ये ६३ प्रकृतियाँ हुईं। अब ३० और बताई जाती हैं–अगुरुलघु, उपघात, पराघात, आतप, उद्योत, शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति, उच्छ्वास, त्रस, स्थावर, बादर सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, प्रत्येक, साधारण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय यशः कीर्ति, अयशः कीर्ति, निर्माण और तीर्थङ्कर नाम कर्म।

ये कुल मिलाकर नाम कर्म की ९३ प्रकृतियाँ हुईं। एक शरीर के पुद्गलों के साथ उसी शरीर के बन्ध की अपेक्षा बंधन नाम कर्मके पांच भेद हैं। परन्तु एक शरीर के साथ जिस प्रकार उसी शरीर के पुद्गलों का बन्ध होता है उसी तरह दूसरे शरीरों के पुद्गलों का भी बन्ध होता है। इस विवक्षा से बन्धन नाम कर्म के १५ भेद हो जाते हैं। वे ये हैं–(१) औदारिक औदारिक बन्धन, (२) औदारिक तैजस बन्धन (३)औदारिक कार्मण बन्धन (४) वैक्रिय वैक्रिय बन्धन (५) वैक्रिय तैजस बन्धन (६) वैक्रिय कार्मण बन्धन (७) आहारक आहारक बन्धन (८) आहारक तैजस बन्धन (९) आहारक कार्मण बन्धन (१०) औदारिक तैजस कार्मण बन्धन (११) वैक्रिय तैजस कार्मण बन्धन (१२) आहारक तैजस कार्मण बन्धन (१३) तैजस तैजस बन्धन (१४) तैजस कार्मण बन्धन (१५) कार्मण कार्मण बन्धन। इस प्रकार से बन्धन नाम कर्म के १५ भेद गिनने पर नाम कर्म के १० भेद

और बढ़ जाते हैं। इस प्रकार नाम कर्म की १०३ प्रकृतियां हो जाती हैं।

यदि बन्धन और संघात नाम कर्म की १० प्रकृतियों का समावेश शरीर नाम कर्म की प्रकृतियों में कर लिया जाय तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की २० प्रकृतियों न गिनकर सामान्य रूप से चार प्रकृतियों ही गिनी जाय तो नाम कर्म की ९३ प्रकृतियों में से ये २६ कम कर देने पर बन्ध की अपेक्षा नाम कर्म की ६७ प्रकृतियों ही होती हैं। क्योंकि वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श की एक समय एक एक प्रकृति ही बन्धती है।

(७) गोत्र कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव ऊंच नीच शब्दों से कहा जाय उसे गोत्र कर्म कहते हैं। इसी कर्म के उदय से जीव जाति कुल आदि की अपेक्षा छोटा बड़ा कहा जाता है। गोत्र कर्म आत्मा के 'अगुरुलघुत्व' गुण को रोकता है। गोत्र कर्म का स्वभाव कुम्हार के समान है। जैसे कुम्हार कई घड़ों को ऐसा बनाता है कि लोग उनकी प्रशंसा करते हैं और कुछ को कलश मान कर उनकी अक्षत चन्दन आदि से पूजा करते हैं। कई घडे ऐसे होते हैं कि निन्द्य पदार्थ के संयोग के बिना भी लोग उनकी निन्दा करते हैं तो कई मद्य आदि घृणित द्रव्यों के रखे जाने से सदा निन्दनीय समझे जाते हैं। ऊंच नीच भेद वाले गोत्र- भी ऐसा ही है। उच्च गोत्र के उदय से जीव धन, रूप

आदि से हीन होता हुआ भी ऊंचा माना जाता है और नीच गोत्र के उदय से धन, रूप आदि से संपन्न होते हुए भी नीच ही माना जाता है। गोत्र के दो भेद हैं—उच्च गोत्र और नीच गोत्र।

(८) अन्तराय कर्म—जिस कर्म के उदय से आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, इन शक्तियों की घात होती है अर्थात् दान, लाभ आदि में रुकावट पडती है वह अन्तराय कर्म है। यह कर्म कोषाध्यक्ष (भंडारी) के समान है। राजा की आज्ञा होते हुए भी कोषाध्यक्ष के प्रतिकूल होने पर जैसे याचक को धनप्राप्ति में बाधा पड़ जाती है। उसी प्रकार आत्मा रूपी राजा के दान, लाभ आदि की इच्छा होते हुए भी अन्तराय कर्म उसमें रुकावट डाल देता है। अन्तराय कर्म के पांच भेद हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय।

इस प्रकार ज्ञानावरणीय की ५। दर्शनावरणीय की ९। वेदनीय की २। मोहनीय की २८। आयुकर्म की ४। नामकर्म की ९३। गोत्र कर्म की २। अन्तराय कर्म की ५। ये कुल मिला कर आठ कर्म की १४८ प्रकृतियां हुइ। यह प्रकृति बन्ध हुआ।

अब स्थिति बन्ध का वर्णन किया जाता है—

प्र० स्थिति बन्ध किसे कहते हैं?

उ० जैसे कोई लड्डू पन्द्रह दिन, कोई एक महीना और कोई इससे भी अधिक समय तक एक ही हालत में रहता है अर्थात् निजी स्वभाव में रहता है, विकार को प्राप्त नहीं होता है। इसी तरह कर्मों की भी कालमर्यादा होती है। अर्थात् जैसे आज बंधा हुआ कोई कर्म अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, कोई कर्म एक वर्ष तक यावत् कोई कर्म सत्तर क्रोडाक्रोडी सागरोपम तक रहता है इसको 'स्थिति बन्ध' कहते हैं।

कर्मों की स्थिति दो प्रकार की होती है—जघन्य स्थिति और उत्कृष्ट स्थिति। आठकर्मों की जघन्य स्थिति इस प्रकार है—

+वेदनीय कर्म की जघन्य अर्थात् कम से कम स्थिति बारह मुहूर्त की है। नाम कर्म और गोत्र कर्म की आठ मुहूर्त की है। शेष कर्मों की अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, आयु और अन्तराय इन पांच कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

अब आठ कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई जाती है—

❀ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय

+बारस मुहुत्ता जहण्णा, वेयणीय अट्ठ णामगोएसु।
सेसाणंतमुहुत्तं, एयं बंधट्ठिई माणं॥

❀णाणे य दंसणावरणे, वेयणए चेव अंतराए य।
तीसं कोडाकोडी अयराणं ठिई य उक्कोसा॥

इन चार कर्मों की उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम की है। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोडाकोडी सागरोपम की है। आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेत्तीस सागरोपम की है। नामकर्म और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति वीस कोडा कोडी सागरोपम की है।

अब आठकर्मों के अनुभाग बन्ध का वर्णन किया जाता है। अनुभाग बन्ध में कर्मबन्धने के कारण और फलभोग का कथन किया जायगा।

ज्ञानावरणीय कर्म छह कारणों से बंधता है। वे ये हैं—

(१) ज्ञान और ज्ञानी से विरोध करना और उसके प्रतिकूल आचरण करना।

(२) ज्ञान गुरु अथवा ज्ञान का गोपन करना।

(३) ज्ञान में अन्तराय देना।

(४) ज्ञान और ज्ञानी से द्वेष करना।

(५) ज्ञान और ज्ञानी की आशातना करना।

(६) ज्ञान और ज्ञानी के साथ विवाद करना अथवा उनमें दोष दिखाने की चेष्टा करना।

ज्ञानावरणीय कर्म दस प्रकारसे भोगा जाता है—(१) श्रोत्रावरण (२) श्रोत्रविज्ञानावरण (३) नेत्रावरण (४) नेत्र विज्ञाना-

---

सित्तरि कोडाकोडी मोहणीए वीस णाम गोएसु।
तित्तीसं अयराइं, आउट्ठिई बंध उक्कोसा॥

वरण (५) घ्राणावरण (६) घ्राण विज्ञानावरण (७) रसनावरण (८)रसन विज्ञानावरण (९)स्पर्शनावरण (१०)स्पर्शन विज्ञानावरण।

यहां पर श्रोत्रावरण से श्रोत्रेन्द्रिय विषयक क्षयोपशम का आवरण समझना चाहिये और श्रोत्र विज्ञानावरण से श्रोत्रेन्द्रिय विषयक उपयोग का आवरण समझना चाहिये। इसी तरह शेष चार इन्द्रियों के विषय में समझना चाहिये। यहां पर निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय की विवक्षा नहीं है क्योंकि द्रव्येन्द्रियों तो नाम कर्म से होती हैं, इसलिए ज्ञान का आवरण करना उनका विषय नहीं है। यहां पर तो लब्धि और उपयोग रूप भावेन्द्रिय की ही विवक्षा है।

दर्शनावरणीय कर्म बांधने के छह कारण हैं। वे ये हैं-

(१) दर्शन और दर्शनवान् के साथ विरोध करना तथा उसके प्रतिकूल आचरण करना।

(२) दर्शन और दर्शनवान् का निह्नव (गोपन) करना।

(३) दर्शन में अन्तराय देना।

(४) दर्शन और दर्शनवान् से द्वेष करना।

(५) दर्शन और दर्शनवान् की आशातना करना।

(६) दर्शन और दर्शनवान् के साथ विवाद करना तथा उनमें दोष दिखाने की चेष्टा करना।

दर्शनावरणीय कर्म नव प्रकारसे भोगा जाता है-(१) चक्षु दर्शनावरणीय (२) अचक्षुदर्शनावरणीय (३) अवधि दर्शनावर-

णीय (४) केवल दर्शनावरणीय (५) निद्रा (६) निद्रानिद्रा (७) प्रचला (८) प्रचलाप्रचला (९) स्त्यान गृद्धि।

इन नव प्रकार से दर्शनावरणीय कर्म उदय में आता है अर्थात् इन नव प्रकार से दर्शनावरणीय कर्म का फल भोगा जाता है। इन नव का अर्थ पहले (बयासी पाप प्रकृतियों में) बताया जा चुका है।

वेदनीय कर्म के दो भेद हैं-सात वेदनीय और असाता वेदनीय। साता वेदनीय कर्म दस कारणों से बंधता है। वे ये हैं-

(१) पाणाणुकंपयाए-प्राण (बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय) की अनुकम्पा करने से सातावेदनीय कर्म बंधता है।

(२) भूयाणु कंपयाए-भूत (वनस्पति) की अनुकम्पा करने से।

(३) जीवाणु कंपयाए-जीवों (पञ्चेन्द्रिय जीवों) पर अनुकम्पा करने से।

(४) सत्ताणुकंपयाए-सत्त्वा (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय, इन चार स्थावरों की अनुकम्पा करने से।

(५) अदुक्खणयाए-प्राण, भूत, जीव, सत्त्व, इन सभी प्राणियों को किसी प्रकार का दुःख न देने से।

(६) असोयणयाए-उपरोक्त सभी प्राणियों को शोक न उपजाने से।

(७) अझूरणयाए–इन प्राणियों को खेद नहीं कराने से (नहीं झूराने से, नहीं रूलाने से)।

(८) अतिप्पणयाए–इन प्राणियों को वेदना न देने से और उन्हें रुला कर टप टप आंसू नहीं गिरवाने से।

(९) अपिट्टणयाए–इन प्राणियों को न पीटने (मारने) से।

(१०) अपरियावणयाए–इन प्राणियों को किसी प्रकार का परिताप उत्पन्न न कराने से जीव साता वेदनीय कर्म का बन्ध करता है।

असातावेदनीय कर्म का बन्ध बारह कारणों से होता है। वे ये हैं–

(१) पाणभूय जीव सत्ताणं दुक्खणयाए–प्राण, भूत, जीव, सत्त्व को दुःख देने से असातावेदनीय कर्म बंधता है।

(२) सोयणयाए–उपरोक्त सभी प्राणियों को शोक कराने से।

(३) झूरणयाए–इन प्राणियों को झूराने से (खेद कराने से, रुलाने से)

(४) तिप्पणयाए–इन प्राणियों को वेदना पहुंचाने से, टप टप आंसू गिरवाने से।

(५) पिट्टणयाए–इन प्राणियों का पिटने (मारने) से।

(६) परियावणयाए–इन प्राणियोंको परितापना उपजानेसे

(७) बहु दुक्खणयाए–बहुत दुःख देने से।

(८) बहुसोयणयाए–बहुत शोक कराने से।

(९) बहु झूरणयाए-बहुत झुराने से (खेद कराने से, रुलाने से)

(१०) बहुतिप्पणयाए-बहुत वेदना पहुंचाने से, बहुत टप टप आंसू गिरवाने से।

(११) बहु पिट्टणयाए-बहुत पिटने (मारने) से।

(१२) बहु परियावणयाए-बहुत परिताप उपजाने से जीव असाता वेदनीय कर्म का बन्ध करता है।

साता वेदनीय कर्म आठ प्रकार से भोगा जाता है—(१) मनोज्ञ शब्द (२) मनोज्ञ रूप (३) मनोज्ञ गन्ध (४) मनोज्ञ रस (५) मनोज्ञ स्पर्श (६) मनःसुखता अर्थात् मनकी स्वस्थता। (७) वचनकी सुखता (स्वस्थता) अर्थात् कानों को मधुर लगनेवाली और मनमें आह्लाद (हर्ष) उत्पन्न करनेवाली वाणी। (८) काय सुखता अर्थात् स्वस्थ और नीरोग शरीर प्राप्त होना।

इनसे विपरीत आठ प्रकारसे असातावेदनीय कर्म भोगा जाता है। (१) अमनोज्ञ शब्द (२) अमनोज्ञ रूप (३) अमनोज्ञ गन्ध (४) अमनोज्ञ रस (५) अमनोज्ञ स्पर्श (६) मनः दुःखता-अस्वस्थ मन। (७) वचन दुःखता अर्थात् कानों को कटु लगनेवाली एवं अप्रिय वाणी। (८) कायदुःखता अर्थात् अस्वस्थ और रोगी शरीर प्राप्त होना। ये आठ असाता: वेदनीय के अनुभाव (फल) है।

मोहनीय कर्म छह कारणोंसे बन्धता है—(१) तीव्र क्रोध करनेसे, (२) तीव्र मान करने से (३) तीव्र माया करनेसे (४) तीव्र लोभ करनेसे (५) तीव्र दर्शनमोहनीय से (६)तीव्र चारित्र मोहनीय से अर्थात् नोकषाय मोहनीय से। इन छह कारणोंसे मोहनीय कर्मका बन्ध होता है।

मोहनीय कर्म का अनुभाव (फल) पांच प्रकार का है—(१) सम्यक्त्व मोहनीय (२) मिथ्यात्व मोहनीय (३) मिश्र-मोहनीय (सम्यक् मिथ्यात्व मोहनीय)। (४) कषाय मोहनीय। (५) नोकषाय मोहनीय।

आयुकर्म के चार भेद हैं—नरक आयु, तिर्यञ्च आयु, मनुष्य आयु, देव आयु। इनमें से प्रत्येक के बन्ध के चार चार कारण हैं। नरक आयु बन्ध के चार कारण—(१) महा आरम्भ—बहुत प्राणियों की हिंसा हो ऐसे तीव्र परिणामों से कषायपूर्वक प्रवृत्ति करना महा आरम्भ है।

(२) महापरिग्रह—वस्तुओं पर अत्यन्त मूर्च्छा महा परिग्रह है।

(३) पञ्चेन्द्रिय वध—पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा करना।

(४) कुणिम आहार—कुणिम अर्थात् मांस का आहार करना।

इन चार कारणों से जीव नरक आयु का बन्ध करता है।

तिर्यञ्च आयु बांधने के चार कारण ये हैं—

(१) माया अर्थात् परिणामों की कुटिलता। मनमें कुछ और ही और बाहर बर्ताव कुछ और ही। विषकुम्भ पयोमुख (जिस घड़े में जहर भरा हो किन्तु मुख ऊपर दूध भरा हो) की तरह बर्ताव अर्थात् दिल में अनिष्ट चाहना और ऊपर से मीठा रहना। इस प्रकार का बर्ताव नरक आयु बन्ध का कारण होता है।

(२) निकृति–ढोंग करके दूसरों को ठगने की चेष्टा करना।

(३) झूठ बोलना।

(४) झूटा तोल झूठा माप रखना अर्थात् खरीदने के लिए बड़े और बेचने के लिए छोटे तोल छोटे माप रखना।

इन चार कारणों से जीव तिर्यञ्च आयु का बन्ध करता है।

मनुष्य आयु बन्ध के चार कारण है। वे ये हैं—

(१) प्रकृति की भद्रता।

(२) प्रकृति की विनीतता

(३) सानुक्रोशता अर्थात् दया और अनुकम्पा के परिणाम

(४) अमत्सरता अर्थात मत्सर भाव–ईर्षाभाव का न होना।

देव आयु बन्ध के चार कारण हैं। वे ये हैं–

(१) सराग संयम

(२) संयमासंयम अर्थात् देशविरति श्रावकपना।

(३) अकाम निर्जरा अर्थात् अनिच्छापूर्वक पराधीनता आदि कारणों से कर्मों की निर्जरा।

(४) बालतप अर्थात् विवेक बिना अज्ञानपूर्वक किया गया काया क्लेश आदि तप ।

इन चार कारणों से जीव देव आयु का बन्ध करता है।

आयु कर्म चार प्रकार से भोगा जाता है। यथा-(१) नरक आयु (२) तिर्यञ्च आयु (३) मनुष्य आयु (४) देव आयु।

नाम कर्म के मुख्य दो भेद है-शुभ नाम कर्म और अशुभ नाम कर्म। शुभ नाम कर्म चार कारणोंसे बांधा जाता है वे ये है-(१) काया की सरलता (२) भाव (परिणाम)की सरलता (३) भाषा की सरलता (४) अविसंवादन योग। ये शुभ नामकर्मबन्धके हेतु हैं। कहना कुछ और करना कुछ इस प्रकार का व्यवहार विसंवादन योग है। इसका अभाव अर्थात् मन, वचन और कार्य में एकता का होना अविसंवादन योग है।

शुभ नाम कर्म में तीर्थङ्कर नाम भी है। तीर्थङ्कर नामकर्म बांधनेके बीस बोल है। वे इस प्रकार हैं—

अरिहंत सिद्ध पवयण, गुरुथेर बहुस्सुए तवस्सीसु ।
वच्छलया एएसिं अभिक्ख णाणोवओगे य ॥

दंसण विणए आवस्सए य, सीलव्वए णिरइआर ।
खण लव तव चियाए, वेयावच्चे समाही य ॥

अपुव्वणाणगहणे, सुयभत्ती पवयणे पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥

(ज्ञातासूत्र अध्य० ८)

अर्थ—(१-७) अरिहन्त, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत और तपस्वी, इनमें भक्तिभाव रखना, इनके गुणोंका कीर्तन करना तथा इनकी सेवा करना। (८) ज्ञान में निरन्तर उपयोग रखना। (९) निरतिचार सम्यक्त्व धारण करना (१०) अतिचार (दोष) न लगाते हुए ज्ञानादि विषय का सेवन करना। (११) भावपूर्वक शुद्ध आवश्यक (प्रतिक्रमण) करना। (१२) मूलगुण और उत्तरगुणों का निरतिचार पालन करना। (१३) सदा संवेग भाव और शुभ ध्यान में लगे रहना। (१४) तप करना (१५) सुपात्र दान देना (१६) दस प्रकार की वैयावृत्य (वेयावच्च) करना। (१७) गुरु आदि को समाधि-भाव उपजाने से, उनके चित्त को प्रसन्न रखना। (१८) नया नया आत्मिक ज्ञान सीखना। (१९) श्रुत की भक्ति, बहुमान करना। (२०) प्रवचन की प्रभावना करना।

इन बीस बोलों की भावपूर्वक आराधना करने से जीव तीर्थङ्कर नाम कर्म बांधता है।

नाम कर्म २८ प्रकार से भोगा जाता है। जिनमें से शुभनाम कर्म १४ प्रकार से भोगा जाता हैं—(१) इष्ट शब्द (२) इष्ट रूप (३) इष्ट गंध (४) इष्ट रस (५) इष्ट स्पर्श (६) इष्ट गति (७) इष्ट स्थिति (८) इष्ट लावण्य (९) इष्ट यशः कीर्ति (१०) इष्ट उत्थान बल वीर्य पुरुषाकार पराक्रम (११) इष्ट स्वरता (१२) कान्त स्वरता (१३) प्रिय स्वरता (१४) मनोज्ञ स्वरता। इन चौदह बातों की प्राप्ति होना शुभ नाम कर्म का फल है।

अशुभ नाम कर्म चौदह प्रकार से भोगा जाता है–(१) अनिष्ट शब्द (२) अनिष्ट रूप (३) अनिष्ट गन्ध (४) अनिष्ट रस (५) अनिष्ट स्पर्श (६) अनिष्ट गति (७) अनिष्ट स्थिति (८) अनिष्ट लावण्य (९) अनिष्ट यशः कीर्ति (अयशः कीर्ति) (१०) अनिष्ट उत्थान बल वीर्य पुरुषाकार पराक्रम (११) अनिष्ट स्वरता (१२) अकान्त स्वरता (१३) अप्रिय स्वरता (१४) अमनोज्ञ स्वरता। इन चौदह अशुभ बोलों की प्राप्ति होना अशुभ नाम कर्म का फल है।

इस प्रकार नाम कर्म अट्ठाईस प्रकार से भोगा जाता है।

गोत्र कर्म १६ प्रकार से बांधा जाता है। गोत्र कर्म के दो भेद हैं–उच्च गोत्र और नीच गोत्र। उच्च गोत्र आठ कारणों से बंधता है–(१) जाति (२) कुल (३) बल (४) रूप (५) तप (६) श्रुत (७) लाभ (८) ऐश्वर्य। इन आठ बातों का मद–अभिमान न करने से उच्च गोत्र का बन्ध होता है। उपरोक्त आठ बातों का मद (अभिमान) करने से नीच गोत्र का बन्ध होता है। इस प्रकार १६ कारणों से गोत्र कर्म का बन्ध होता है।

गोत्र कर्म १६ प्रकार से भोगा जाता है। उनमें से उच्च गोत्र आठ बातों से भोगा जाता है। वे ये हैं–(१) जाति-विशिष्टता (२) कुल विशिष्टता (३) बल विशिष्टता (४) रूप विशिष्टता (५) तपविशिष्टता (६) श्रुत विशिष्टता (७) लाभ विशिष्टता (८) ऐश्वर्य विशिष्टता। उच्च गोत्र के फल स्वरूप

उपरोक्त आठ बातें प्राप्त होती है। नीच गोत्र आठ प्रकार से भोगा जाता है-(१) जाति हीनता (२) कुल हीनता (३) बल हीनता (४) रूप हीनता (५) तप हीनता (६) श्रुत हीनता (७) लाभ हीनता (८) एश्वर्य हीनता। इन आठ बातों की प्राप्ति होना नीचगोत्र का फल है।

अन्तराय कर्म पांच कारणों से बांधा जाता है-(१) दान में अन्तराय देना (२) लाभ में अन्तराय देना (४) भोग में अन्तराय देना (४) उपभोग में अन्तराय देना (५) वीर्य में अन्तराय देना।

अन्तराय कर्म पांच प्रकार से भोगा जाता है-(१) दान, (२) लाभ, (३) भोग, (४) उपभोग (५) वीर्य में अन्तराय अर्थात् विघ्न बाधा उपस्थित होना। उपरोक्त पांच बातों में विघ्न बाधा उपस्थित होना अन्तराय कर्म का फल है।

इस प्रकार यह आठ कर्मों का अनुभाग बन्ध (अनुभाव बन्ध—अनुभव बन्ध) है। इसे रसबन्ध भी कहते हैं।

प्रदेश बन्ध—जैसे कोई लड्डू दो तोले का, कोई पांच तोले का, कोई दस तोले का और कोई पाव भर का होता है। उसी तरह कोई कर्म दल परिमाण में कम होता है और कोई ज्यादा। इस तरह अनेक प्रकार के परिमाण होते हैं। इन परिमाणों को प्रदेश बन्ध कहते हैं।

इस प्रकार प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध इन चारों बन्धों का वर्णन हुआ।

॥ इति बन्ध तत्त्व समास ॥

मोक्षतत्त्व

प्र० मोक्ष किसे कहते हैं ?

उ० आत्मा का कर्म रूपी फांसी से सर्वथा छूट जाना मोक्ष है। आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों से सब कर्मों का क्षय हो जाना, बन्धन से छूट जाना मोक्ष है।

अब मोक्ष तत्त्व का विचार नौ द्वारों से किया जाता है-

सतपयपरूवणया, दव्वपमाणं च खित्तफुसणया।
कालो य अंतरभाग, भावे अप्पा-बहुं चेव॥

अर्थ—(१) सत्यपद प्ररूपणा द्वार (२) द्रव्य-प्रमाण द्वार (३) क्षेत्र द्वार (४) स्पर्शना द्वार (५) काल द्वार (६) अन्तर द्वार (७) भाग द्वार (७) भाव द्वार (९) अल्प बहुत्व द्वार। ये नव द्वार हैं। इन नव द्वारों से मोक्ष का स्वरूप समझाया जाता है।

संतं सुद्ध पयत्ता, विज्जंतं एव कुसुमं व्व न असंतं।
मुक्खत्ति पयं तस्स उ परूवणा मग्गणाईहिं॥

अर्थ—मोक्ष सत्स्वरूप है क्यों कि मोक्ष यह शब्द शुद्ध एवं एक पद है। संसार में जितने भी एक पद वाले पदार्थ है वे सब सत्स्वरूप हैं। यथा-घट पट आदि। दो पद वाले पदार्थ सत् और असत् दोनों तरह के हो सकते हैं। जैसे-

खरशृङ्ग (गदहे के सींग) और वन्ध्या पुत्र आदि पदार्थ असत् हैं किन्तु गोशृङ्ग, मैत्रतनय, राजपुत्र आदि पदार्थ सत् स्वरूप हैं। 'मोक्ष' एक पद वाच्य होने से सत्स्वरूप हैं किन्तु आकाश कुसुम (आकाश का फूल) की तरह अविद्यमान—असतस्वरूप नहीं है।

सत्पद प्ररूपणा द्वार का निम्न लिखित चौदह मार्गणा-ओं के द्वारा भी वर्णन किया जा सकता है—

गइ इंदिय काए, जोए वेए कसाय णाणे य।
संजम दंसण लेस्सा, भवसम्मे सण्णि आहारे॥

अर्थ—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार। ये चौदह मार्गणाएं हैं। इनके अवान्तर भेद ६२ होते हैं। यथा—गति ४, इन्द्रिय ५, काय ६, योग ३, वेद ३, कषाय ४, ज्ञान ८ (पांच ज्ञान तीन अज्ञान) संयम ७, (सामायिक चारित्र आदि पांच चारित्र, देशविरति चारित्र और अविरति) दर्शन ४, लेश्या ६, भव्य २, (भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक अथवा भव्य और अभव्य) सम्यक्त्व ६, (औपशमिक, सा-स्वादान, क्षायोपशमिक, क्षायिक, मिश्र और मिथ्यात्व) संज्ञी २, (संज्ञी और असंज्ञी) आहारी २ (आहारी और अनाहारी) ये ६२ भेद होते हैं।

उपरोक्त-चौदह मार्गणाओं में से अर्थात् ६२ भेदों में से

जिन जिन भेदों (मार्गणाओं) से जीव मोक्ष जा सकते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं-

णर गई पणिंदि तस भव सण्णि अहक्खाय खइयसम्मत्ते।
मुक्खोऽणाहार केवल दंसणणाणे न सेसेसु॥

अर्थ--मनुष्य गति, पञ्चेन्द्रिय जाति, त्रसकाय, भव-सिद्धिक, संज्ञी, यथाख्यात चारित्र, अनाहारक, केवल ज्ञान और केवलदर्शन; इन दस मार्गणाओं से युक्त जीव मोक्ष जा सकता है। शेष चार मार्गणाओं (कषाय, वेद, योग, लेश्या) युक्त जीव मोक्ष नहीं जा सकता है।

(२) द्रव्य द्वार-सिद्ध जीव कितने हैं? तो इसका उत्तर यह है कि सिद्ध जीव अनन्त हैं।

(३) क्षेत्र द्वार-वे अनन्त जीव कितने क्षेत्र में रहते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि सब सिद्ध जीव लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में अवस्थित हैं।

(४) स्पर्शना द्वार---सिद्ध भगवान् की स्पर्शना कितनी है? तो इसका उत्तर यह है कि सिद्ध भगवान् की जितनी अवगाहना है उससे स्पर्शना अधिक है। इसका कारण यह है कि जितने आत्म प्रदेश हैं, अवगाहना तो उतनी ही रहेगी परन्तु अवगाहना के चारों तरफ नीचे ऊपर आकाश प्रदेश लगे हुए हैं, इसलिए अवगाहना से स्पर्शना अधिक है।

(५) काल द्वार---एक सिद्ध की अपेक्षा से सिद्ध जीव

आदि अनन्त है और सब सिद्धों की अपेक्षा से सिद्ध जीव अनादि अनन्त हैं।

(६) अन्तर द्वार—सिद्ध जीवों में कितना अन्तर पडता है? तो इसका उत्तर यह है कि सिद्ध जीवों में अन्तर नहीं है क्यों कि सिद्ध अवस्था को प्राप्त करने के बाद फिर वे संसार में आकर जन्म नहीं लेते हैं। इसलिए उनमें अन्तर (व्यवधान) नहीं पड़ता है। अथवा-कोई ऐसा प्रश्न करे कि सिद्ध जीव में परस्पर क्या अन्तर (फर्क) है? तो इसका उत्तर यह है कि केवल ज्ञान और केवल दर्शन की अपेक्षा सब सिद्ध जीव एक समान है। इसलिए उनमें परस्पर कुछ भी अन्तर (फर्क) नहीं है।

(७) भाग द्वार-सिद्ध जीव कितने हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सिद्ध जीव संसारी जीवों के अनन्तवें भाग हैं अर्थात् पृथ्वी पानी वनस्पति आदि के जीव सिद्ध जीवोंसे अनन्तगुणा अधिक हैं।

(८) भावद्वार – औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन पाच भावों में से सिध्ध जीवों में कितने भाव पाये जाते हैं? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि सिद्ध जीवों में क्षायिक और पारिमाणिक ये दो भाव पाये जाते हैं अर्थात् केवलज्ञान केवलदर्शन क्षायिक भाव में हैं और जीवत्व पारिमाणिक भाव में है। अतः ये दो भाव सिद्ध जीवों में होते हैं।

(९) अल्पबहुत्व द्वार–सब से थोड़े नपुंसक लिङ्ग सिद्ध हैं। स्त्रीलिङ्ग सिद्ध उनसे संख्यातगुणा अधिक हैं और पुरुषलिङ्ग सिद्ध उनसे संख्यात गुणा अधिक हैं। इसका कारण यह है कि नपुंसक एक समय में उत्कृष्ट दस मोक्ष जा सकते हैं, स्त्री एक समय में उत्कृष्ट वीस और पुरुष एक समय में उत्कृष्ट १०८ मोक्ष जा सकते हैं।

मनुष्य गति से ही जीव मोक्ष जा सकते हैं। नरकगति, तिर्यञ्चगति और देवगति से सीधा कोई भी जीव मोक्ष नहीं जा सकता। हां, इन तीन गतियों से निकल कर मनुष्यभव करके जीव मोक्ष जा सकते हैं। इस अपेक्षा से चारों गतियों की अपेक्षा सिद्ध जीवों की अल्प बहुत्व बतलाई जाती है–

(१) सब से थोड़े चौथी नरक से निकल कर सिद्ध हुए।

(२) तीसरी नरक से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यातगुणा।

(३) दूसरी नरक से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(४) वनस्पति काय से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(५) पृथ्वीकाय से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(६) अप्काय से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यातगुणा।

(७) भवनपति देवियों से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(८) भवनपति देवों से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(९) वाणव्यन्तर देवियों से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(१०) वाणव्यन्तर देवों से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(११) ज्योतिषी देवियों से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(१२) ज्योतिषी देवों से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(१३) मनुष्यणी से सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(१४) मनुष्य से सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(१५) पहली नरक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यातगुणा।

(१६) तिर्यञ्चणी से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुणा।

(१७) तिर्यञ्च से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(१८) अनुत्तरविमानवासी देवों से निकल कर सिद्ध हुए उनसे सख्यात गुणा।

(१९) नवग्रैवेयक देवलोकों से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(२०) बारहवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुणा।

(२१) ग्यारहवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(२२) दसवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(२३) नवमें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(२४) आठवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(२५) सातवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(२६) छठे देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(२७) पांचवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(२८) चौथे देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(२९) तीसरे देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(३०) दूसरे देवलोक की देवियों से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(३१) दूसरे देवलोक के देवों से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(३२) पहले देवलोक की देवियों से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

(३३) पहले देवलोक के देवों से निकल कर सिद्ध हुए उनसे संख्यात गुणा।

सिद्धों के पन्द्रह भेद—

जिण अजिण तित्थ अतित्था, गिहि अण्ण सलिंग थीणरणपुंसा।
पत्तेय सयंबुद्धा, बुद्धबोहि क्कणिक्का य॥

अर्थ—तीर्थङ्कर सिद्ध, अतीर्थङ्कर सिद्ध, तीर्थ सिद्ध, अतीर्थ सिद्ध, गृहस्थलिङ्ग सिद्ध, अन्यलिङ्ग सिद्ध, स्वलिङ्ग सिद्ध, स्त्रीलिङ्ग सिद्ध, पुरुषलिङ्ग सिद्ध, नपुंसकलिङ्ग सिद्ध, प्रत्येक बुद्ध सिद्ध, स्वयं बुद्ध सिद्ध, बुद्ध बोधित सिद्ध, एक सिद्ध, अनेक सिद्ध।

(१) तीर्थ सिद्ध—जिससे समुद्र तिरा जाय वह तीर्थ कहलाता है अर्थात् जीवाजीवादि पदार्थों की प्ररूपणा करने वाले तीर्थङ्कर भगवान् के वचन और उन वचनों को धारण करने वाला चतुर्विध (श्रावक श्राविका साधु साध्वी) संघ तथा प्रथम गणधर तीर्थ कहलाते हैं। इस प्रकार के तीर्थ की मौजूदगी में जो सिद्ध होते हैं वे तीर्थ सिद्ध कहलाते हैं। जैसे-गौतम स्वामी आदि।

(२) अतीर्थ सिद्ध-तीर्थ की स्थापना होने से पहले अथवा बीच में तीर्थ का विच्छेद होने पर सिद्ध होते हैं वे

अतीर्थसिद्ध कहलाते हैं। जैसे मरूदेवी माता आदि। मरूदेवी माता तीर्थ की स्थापना होने से पहले ही मोक्ष गई थी। भगवान् सुविधिनाथ से लेकर भगवान् शान्तिनाथ तक आठ तीर्थङ्करों के बीच सात अन्तरों में तीर्थ का *विच्छेद हो गया था। इस विच्छेद काल में जो जीव मोक्ष गये तीर्थ विच्छेद काल में मोक्ष जाने वाले अतीर्थसिद्ध कहलाते हैं।

(३) तीर्थङ्करसिद्ध—तीर्थङ्कर पद को प्राप्त करके मोक्ष जानेवाले जीव तीर्थङ्करसिद्ध कहलाते हैं। जैसे-भगवान् ऋषभदेव आदि।

(४) अतीर्थङ्करसिद्ध-सामान्य केवली हो कर मोक्ष जाने वाले जीव अतीर्थङ्करसिद्ध कहलाते हैं। जैसे-पुण्डरीक आदि।

(५) स्वयंबुद्धसिद्ध-दूसरेके उपदेश के विना स्वयमेव बोध प्राप्त कर मोक्ष जानेवाले स्वयंबुद्धसिद्ध कहलाते हैं। जैसे—कपिल आदि।

(६) प्रत्येक बुद्धसिद्ध-जो किसी के उपदेश के विना ही किसी एक पदार्थ को देख कर वैराग्य को प्राप्त होते हैं और दीक्षा धारण करके मोक्ष जाते हैं, वे प्रत्येकबुद्ध कहलाते हैं। जैसे-करकण्डू, नमिराज ऋषि आदि।

---

*तीर्थ विच्छेद होने के बाद असंयतियों की पूजा होना एक अच्छेरा (आश्चर्य) है। इस अवसर्पिणी काल में दस अच्छेरा हुए हैं। उनमें यह (तीर्थ विच्छेद) एक अच्छेरा (आश्चर्य) है।

(७) बुद्धबोधितसिद्ध—आचार्य आदि के उपदेश से बोध प्राप्त कर मोक्ष जानेवाले बुद्धबोधित सिद्ध कहलाते हैं। जैसे—जम्बूस्वामी आदि।

(८) स्त्रीलिङ्ग सिद्ध—स्त्रीलिङ्ग से अर्थात् स्त्री की आकृति रहते हुए मोक्ष जाने वाले स्त्रीलिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं। जैसे—चन्दनबाला आदि।

(९) पुरुष लिङ्ग सिद्ध—पुरुष की आकृति रहते हुए मोक्ष में जाने वाले पुरुष लिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं। जैसे गौतम स्वामी आदि।

नपुंसकलिङ्ग—नपुंसक की आकृति रहते हुए मोक्ष जाने वाले नपुंसक लिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं। जैसे—भीष्म आदि।

(१२) स्वलिङ्ग सिद्ध—साधु वेश (रजोहरण) मुखवस्त्रिका आदि) में रहते हुए मोक्ष जाने वाले स्वलिङ्गसिद्ध कहलाते हैं—जैसे—जैन साधु।

(१२) अन्यलिङ्ग सिद्ध—परिव्राजक आदि के वल्कल, गेरुएं वस्त्र आदि द्रव्य लिङ्ग में रहकर मोक्ष जाने वाले अन्य लिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं। जैसे—वल्कलचीरी आदि।

(१३) गृहस्थलिङ्गसिद्ध—गृहस्थके वेशमें मोक्ष जानेवाले गृहस्थलिङ्ग (गृहीलिङ्ग) सिद्ध कहलाते हैं। जैसे—मरुदेवी माता आदि।

(१४) एक सिद्ध—एक समयमें एक एक मोक्ष जाने वाले जीव एकसिद्ध कहलाते है। जैसे—भगवान् महावीरस्वामी आदि।

(१८) अनेकसिद्ध–एक समयमें अनेक (एकसे अधिक) मोक्ष जाने वाले अनेकसिद्ध कहलाते हैं। जैसे–भगवान् ऋषभदेव आदि।

प्र० एक समय में अधिक से अधिक कितने मोक्ष जा सकते हैं?

उ० बत्तीसा अडयाला, सट्ठी बावत्तरि य बोद्धव्वा।
चुलसीई छण्णउई उ, दुरहियमट्ठुत्तर सयं च॥

अर्थ–एक समय से आठ समय तक एक एक से लेकर बत्तीस तक जीव मोक्ष जा सकते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि पहले समयमें जघन्य एक दो और उत्कृष्ट बत्तीस जीव सिद्ध हो सकते हैं। इसी तरह दूसरे समयमें भी जघन्य एक दो और उत्कृष्ट बत्तीस जीव मोक्ष जा सकते हैं। इसी तरह तीसरे, चौथे यावत् आठवें समय तक जघन्य एक दो और उत्कृष्ट बत्तीस जीव मोक्ष जा सकते हैं। आठ समयों के बाद निश्चित रूपसे अन्तरा पड़ता है।

तेतीस से लेकर अड़तालीस तक जीव निरन्तर सात समय तक मोक्ष जा सकते हैं। इसके पश्चात् निश्चित् रूप से अन्तरा पड़ता है। ऊनपचास से लेकर साठ तक जीव निरन्तर छह समय तक मोक्ष जा सकते हैं। इसके बाद निश्चित रूप से अन्तरा पडता है। इकसठ से बहत्तर तक जीव निरन्तर पांच समय तक, तिहत्तर से चौरासी तक निरन्तर चार समय तक, पिच्यासी से छयानवें तक निरन्तर

तीन समय तक, सत्तानवें से एक सौ दो तक निरन्तर दो समय तक मोक्ष जा सकते हैं। इसके बाद निश्चित रूप से अन्तरा पड़ता है। एक सौ तीन से लेकर एक सौ आठ तक जीव निरन्तर एक समय तक मोक्ष जा सकते हैं अर्थात् एक समय में उत्कृष्ट एक सौ आठ सिद्ध हो सकते हैं। इसके पश्चात् अवश्य अन्तरा पड़ता है। दो तीन आदि समय तक निरन्तर उत्कृष्ट सिद्ध नहीं हो सकते हैं।

॥ इति मोक्ष तत्त्व समाप्त ॥

प्र० नव तत्त्व जानने से क्या लाभ होता है?

उ० जीवाइ नव पयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं।
भावेण सद्दहंतो, अयाणमाणे वि सम्मत्तम् ॥

अर्थ—जो जीवादि नव तत्त्वों को जानता है उसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है। जीवादि तत्त्वों को नहीं जानने वाले भी यदि शुद्ध अन्तःकरण से जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए नव तत्त्वों पर श्रद्धा रखते हैं तो उन्हें भी सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

यथा—सव्वाइ जिणेसरभासियाइं वयणाइ णण्णहा हुंति।
इय बुद्धि जस्समणे, सम्मत्तं णिच्चलं तस्स ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए सभी वचन सत्य हैं, ऐसी जिसकी बुद्धि हो उसे निश्चय से सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

प्र० सम्यक्त्व प्राप्त होने का क्या फल है?

उ० अंतोमुहुत्तमित्तं वि फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं।
तेसिं अवड्ढपुग्गल परियट्टो चेव संसारो ॥

अर्थ–जिन जीवों ने अन्तर्मुहूर्त्तमात्र भी समकित की स्पर्शना कर ली अर्थात् जिन जीवों को अन्तर्मुहूर्त्त मात्र भी समकित की प्राप्ति हो गई उनको उत्कृष्ट अर्द्धपुद्गल परावर्तन से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करना पडता है। अर्थात् अर्द्धपुद्गल परावर्तन के अन्दर ही उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

प्र० अर्द्ध पुद्गल परावर्तन किसे कहते है ?

उ० उस्सप्पिणी अणंता, पुग्गल परियट्टो मुणेयव्वो।
तेणंता तीअद्धा अणागयद्धा अणंतगुणा ॥

अर्थ–अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी बीत जाने पर एक पुद्गल परावर्तन होता है। इस तरह के पुद्गल परावर्तन अनन्त हो चुके हैं और अनन्त होने वाले हैं।

प्र० नव तत्त्व जानने का क्या सार है ?

उ० भव्य जीव इन नव तत्त्वों का अभ्यास करके श्री जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा का सम्यक् श्रद्धान करें और विशुद्ध आचरणरूप सम्यक् चारित्र का पालन करके मोक्ष पद प्राप्त करें। यही नव तत्त्वों को जानने का सार है।

मति दोष से अथवा लेख दोष से रही हुई भूल चूक के लिए ' मिच्छामि दुक्कडं " देता हूं और गुणग्राही दयालु सज्जन मुझे क्षमा प्रदान कर अशुद्धियों को सुधार कर पढ़ने की कृपा करें। यह मेरी अभ्यर्थना है।

यह नव तत्त्व का संक्षिप्त विवरण हुआ।

॥ इति नव तत्त्व समास ॥

अनानुपुर्वी

१	२	३	४	५
२	१	३	४	५
१	३	२	४	५
३	१	२	४	५
२	३	१	४	५
३	२	१	४	५

१	२	४	३	५
२	१	४	३	५
१	४	२	३	५
४	१	२	३	५
२	४	१	३	५
४	२	१	३	५

१	३	४	२	५
३	१	४	२	५
१	४	३	२	५
४	१	३	२	५
३	४	१	२	५
४	३	१	२	५

२	३	४	१	५
३	२	४	१	५
२	४	३	१	५
४	२	३	१	५
३	४	२	१	५
४	३	२	१	५

१	२	३	५	४
२	१	३	५	४
१	३	२	५	४
३	१	२	५	४
२	३	१	५	४
३	२	१	५	४

१	२	५	३	४
२	१	५	३	४
१	५	२	३	४
५	१	२	३	४
२	५	१	३	४
५	२	१	३	४

१	३	५	२	४
३	१	५	२	४
१	५	३	२	४
५	१	३	२	४
३	५	१	२	४
५	३	१	२	४

२	३	५	१	४
३	२	५	१	४
२	५	३	१	४
५	२	३	१	४
३	५	२	१	४
५	३	२	१	४

१ २ ४ ५ ३
२ १ ४ ५ ३
१ ४ २ ५ ३
४ १ २ ५ ३
२ ४ १ ५ ३
४ २ १ ५ ३

१ २ ५ ४ ३
२ १ ५ ४ ३
१ ५ २ ४ ३
५ १ २ ४ ३
२ ५ १ ४ ३
५ २ १ ४ ३

१ ४ ५ २ ३
४ १ ५ २ ३
१ ५ ४ २ ३
५ १ ४ २ ३
४ ५ १ २ ३
५ ४ १ २ ३

२ ४ ५ १ ३
४ २ ५ १ ३
२ ५ ४ १ ३
५ २ ४ १ ३
४ ५ २ १ ३
५ ४ २ १ ३

१	३	४	५	२
३	१	४	५	२
१	४	३	५	२
४	१	३	५	२
३	४	१	५	२
४	३	१	५	२

१	३	५	४	२
३	१	५	४	२
१	५	३	४	२
५	१	३	४	२
३	५	१	४	२
५	३	१	४	२

१	४	५	३	२
४	१	५	३	२
१	५	४	३	२
५	१	४	३	२
४	५	१	३	२
५	४	१	३	२

३	४	५	१	२
४	३	५	१	२
३	५	४	१	२
५	३	४	१	२
४	५	३	१	२
५	४	३	१	२

२	३	४	५	१
३	२	४	५	१
२	४	३	५	१
४	२	३	५	१
३	४	२	५	१
४	३	२	५	१

२	३	५	४	१
३	२	५	४	१
२	५	३	४	१
५	२	३	४	१
३	५	२	४	१
५	३	२	४	१

२	४	५	३	१
४	२	५	३	१
२	५	४	३	१
५	२	४	३	१
४	५	२	३	१
५	४	२	३	१

३	४	५	२	१
४	३	५	२	१
३	५	४	२	१
५	३	४	२	१
४	५	३	२	१
५	४	३	२	१

॥ श्री साधु वंदना प्रारंभ ॥

नमुं अनंत चोवीशी, ऋषभादिक महावीर ॥
जेणे आरज क्षेत्रमां, घाली धर्मनी शीर ॥ १ ॥

महा अतुल्य बळि नर, शूर वीर ने धीर ॥
तीरथ प्रवर्तावी, पहोत्या भवजळ तीर ॥ २ ॥

सीमंधर प्रमुख, जघन्य तीर्थंकर वीश ॥
छे अढी द्वीपमां, जयवंता जगदीश ॥ ३ ॥
एकसो ने सित्तेर उत्कृष्ट पदे जगदीश ॥
धन्य म्होटा प्रभुजी, तेहने नमावुं शीश ॥ ४ ॥
केवळी दोय क्रोडी, उत्कृष्टा नव क्रोड ॥
मुनि दोय सहस्र क्रोडी, उत्कृष्ट नवसहस्र क्रोड ॥५॥

विचरे विदेहे, महोटा तपसी घोर ॥
भावे करी वंदु, टाळे भवनी खोड ॥ ६ ॥
चोविशे जिनना, सघळा ए गणधार ॥
चौदसे ने बावन, ते प्रणमुं सुखकार ॥ ७ ॥
जिनशासन नायक, धन्य श्री वीर जिणंद ॥
गौतमादिक गणधर, वर्ताव्यो आणंद ॥ ८ ॥
श्री ऋषभदेवना, भरतादिक सो पुत ॥
वैराग्य मन आणी, संयम लियो अद्भूत ॥ ९ ॥

केवळ उपराज्युं, करी करणी करतुत ॥
जिनमत दीपावी, सघळा मोक्ष पहुंत ॥ १० ॥
श्री भरतेश्वरना, हुआ पटोधर आठ ॥
आदित्य जशादिक, पहोत्या शिवपुर वाट ॥ ११ ॥

श्री जिन अंतरना, हुवा पाट असंख्य ॥
मुनि मुक्ते पहोत्या, टाळी कर्मनो वंक ॥ १२ ॥

धन्य कपिल मुनिवर, नमि नमुं अणगार ॥
जेणे ततक्षण त्याग्यो, सहस्र रमणि परिवार ॥ १३ ॥
मुनिवळ हरिकेशी, चित्त मुनीश्वर सार ॥
शुद्ध संयम पाळी, पाम्या भवनो पार ॥ १४ ॥
वळी इक्षुकार राजा, घेर कमलावती नार ॥
भृगु ने जशा, तेहना दोय कुमार ॥ १५ ॥
छये ऋद्धि छांडीने, लीधो संयम भार ॥
इण अल्पकाळमां, पाम्या मोक्ष द्वार ॥ १६ ॥
वळी संयति राजा, हरण आहिडे जाय ॥
मुनिवर गर्दभाळी, आण्यो मारग ठाय ॥ १७ ॥
चारित्र लइने, भेंटया गुरुना पाय ॥
क्षत्रिराज ऋषीश्वर, चर्चा करी चित्त लाय ॥ १८ ॥
वळी दशे चक्रवर्ती, राज्य रमणि ऋद्धि छोड ॥
दशे मुक्ते पहोत्या, कुळने शोभा चोड ॥ १९ ॥
इण अवसर्प्पिणीमा, आठ राम गया मोक्ष ॥
बळभद्र मुनिश्वर, गया पंचमे देवलोक ॥ २० ॥
दशार्णभद्र राजा, वीर वांद्या धरी मान ॥
पछे इन्द्र हठायो, दियो छकाय अभेदान ॥ २१ ॥
करकंडु प्रमुख, चारे प्रत्येक बुद्ध ॥
मुनि मुक्ते पहोतया, जीत्या कर्म महा जुद्ध ॥ २२ ॥
धन्य म्होटा मुनिवर, मृगा पुत्र जगीश ॥
मुनिवर अनाथी, जीत्या राग ने रीश ॥ २३ ॥
वळी समुद्रपाळ मुनि, राजेमती रहनेम ॥
केशी ने गौतम, पाम्या शिवपुर क्षेम ॥ २४ ॥
धन्य विजयघोष मुनि, जय घोष वळी जाण ॥
श्री गर्गाचार्यज, पहोत्या छे निरवाण ॥ २५ ॥

श्री उतराध्ययनमां, जिनवरे कर्या वखाण ॥
शुद्ध मनथी ध्यावो, मनमें धीरज आण ॥ २६ ॥
वळी खंदक संन्यासी, राख्यो गौतम स्नेह ॥
महावीर समीपे, पंच महाव्रत लेह ॥ २७ ॥
तप कठण करीने, झोंसी आपणी देह ॥
गया अच्युत देवलोके, च्यवि लेशे भव छेह ॥ २८ ॥
वळी ऋषभदत्त मुनि, शेठ सुदर्शन सार ॥
शिवराज ऋषीश्वर, धन्य गांगेय अणगार ॥ २९ ॥
शुद्ध संयम पाळी, पाम्या केवळ सार ॥
ए चारे मुनिवर, पहोत्या मोक्ष मोझार ॥ ३० ॥
भगवंतनी माता, धन धन सती देवानंदा ॥
वळी सती जयंती, छोड दिया घर फंदा ॥ ३१ ॥
सती मुक्ते पहोत्या, वळी ते वीरना नन्द ॥
महासती सुदर्शना, घणी सतीओना वृन्द ॥ ३२ ॥
वळी कार्तिक शेठे, पडिमा वहि शूरवीर ॥
जम्यो महोरा उपर, तापस वळती खीर ॥ ३३ ॥
पछी चारित्र लीधुं, मित्र एक सहस्र आठ धीर ॥
मरी हुवा शक्रेन्द्र, च्यवि लेशे भव तीर ॥ ३४ ॥
वळी राय उदायन, दियो भाणेजने राज ॥
पछी चारित्र लेईने, सार्या आतम काज ॥ ३५ ॥
गंगदत्त मुनि आणंद, तारण तरण जहाज ॥
मुनि कौशल्य रोहो, दियो घणाने साज ॥ ३६ ॥
धन्य सुनक्षत्र मुनिवर, सर्वानुभुति अणगार ॥
आराधिक हुईने, गया देवलोक मोझार ॥ ३७ ॥
च्यवि मुगते जाशे, वळी सिंह मुनिश्वर सार ॥
बीजा पण मुनिवर, भगवतीमां अधिकार ॥ ३८ ॥

श्रेणिकनो बेटो, म्होटो मुनिवर मेघ ॥
तजी आठ अंतेउरी आण्यो मन संवेग ॥ ३९ ॥
वीरपें व्रत लेइने, बांधी तपनी तेग ॥
गया विजय विमाने, च्यवि लेशे शिव वेग ॥ ४० ॥

धन्य थावर्चा पुत्र, तजी बत्रीशे नार ॥
तेनी साथे नीकळ्या, पुरुष एक हजार ॥ ४१ ॥
शुकदेव संन्यासी, एक सहस्र शिष्य धार ॥
पंचशयशुं शेलक, लीधो संयम भार ॥ ४२ ॥
सर्व सहस्र अढाई, घणा जीवोने तार ॥
पुंडरगिरी उपर, कियो पादोपगमन संथार ॥ ४३ ॥
आराधिक हुइने, कीधो खेवो पार ॥
हुवा मोटा मुनिवर, नाम लिया निस्तार ॥ ४४ ॥

धन्य जिनपाळ मुनिवर, दोय धनावा साध ॥
गया प्रथम देवलोके, मोक्ष जाशे आराध ॥ ४५ ॥
मल्लिनाथना छ मित्र, महाबळ प्रमुख मुनिराय ॥
सर्व मुक्ते सीधाव्या, महोटी पदवी पाय ॥ ४६ ॥

वळी जितशत्रु राजा, सुबुद्धि नामे प्रधान ॥
पोते चारित्र लेइने, पाम्या मोक्ष निधान ॥ ४७ ॥
धन्य तेतलि मुनिवर, दियो छकाय अभेदान ॥
पोटिला प्रतिबोध्या, पाम्या केवळज्ञान ॥ ४८ ॥

धन्य पांचे पांडव, तजी द्रौपदी नार ॥
स्थिवरनी पासे, लीधो संयम भार ॥ ४९ ॥
श्री नेमि वंदननो, एहवो अभिग्रह कीध ॥
मासमासखमण तप, शेत्रुंजय जई सिद्ध ॥ ५० ॥

धर्मघोष तणा शिष्य, धर्मरुचि अणगार ॥
कीडीयोनी करुणा, आणी दया अपार ॥ ५१ ॥

कडवा तुंबानो, कीधो सघळो आहार ॥
सर्वार्थसिद्ध पहोत्या, च्यवि लेशे भव पार ॥ ५२ ॥
वळी पुंडरिक राजा, कुंडरिक डगियो जाण ॥
पोते चारित्र लेइने, न घाली धर्ममां हाण ॥ ५३ ॥
सर्वार्थसिद्ध पहोत्या, च्यवी लेशे निरवाण ॥
श्री ज्ञातासूत्रमां, जिनवरे कर्यां वखाण ॥ ५४ ॥
गौतमादिक कुंवर, सगा अढारे भ्रात ॥
सर्व अंधक विष्णु सुत, धारिणी ज्यारी मात ॥ ५५ ॥
तजी आठ अन्तेउरी, काढी दीक्षानी वात ॥
चारित्र लेइने, कीधो मुक्तिनो साथ ॥ ५६ ॥
श्री अनेकसेनादिक, छये सहोदर भाय ॥
वसुदेवना नन्दन, देवकी ज्यारी मांय ॥ ५७ ॥
भद्दोलपुर नगरी, नाग गाहावई जाण ॥
सुलसा घेर वधीया, सांभळो नेमिनी वाण ॥ ५८ ॥
तजी बत्रीस अंतेउरी, निकळीया छटकाय ॥
नळ कुबेर समाणा, भेटया श्री नेमिना पाय ॥ ५९ ॥
करी छठ छठ पारणां, मनमें वैराग्य लाय ॥
एक मास संथारे, मुक्ति बिराज्या जाय ॥ ६० ॥
वळी दारुक सारण, सुमुख दुमुख मुनिराय ॥
वळी कुमर अनादृष्टि, गया मुक्ति गढमांय ॥ ६१ ॥
वसुदेवना नन्दन, धन्य धन्य गजसुकुमार ॥
रुपे अति सुन्दर, कळावन्त वय बाळ ॥ ६२ ॥
श्री नेमि समीपे, छोड्यां मोह जंजाळ ॥
भिक्षुनी पडिमा, गया मसाण महाकाळ ॥ ६३ ॥
देखी सोमिल कोप्यो, मस्तके बांधी पाळ ॥
खेरतणा खीरा, शिर ठविया असराळ ॥ ६४ ॥

मुनि नजर न खंडी, मेटी मननी जाळ ॥
परीसह सहीने, मुक्ति गया तत्काळ ॥ ६५ ॥
धन्य जाळी मयाळी, उवयालादिक सांघ ॥
साव ने प्रद्युमन, अनिरुद्ध साधु अगाध ॥ ६६ ॥
वळी सच्चनेमि दृढनेमि, करणि कीधी निरबंध ॥
दशे मुक्ते पहोत्या, जिनवर वचन आराध ॥ ६७ ॥
धन्य अरजुनमाली, कियो कदाग्रह दूर ॥
वीरपें व्रत लेइने, सत्यवादी हुवा शूर ॥ ६८ ॥
करी छठ छठ पारणा, क्षमा करी भरपूर ॥
छ मासनी मांही, कर्म किया चकचूर ॥ ६९ ॥
कुंवर अइमुत्ते, दीठा गौतम स्वाम ॥
सुणी वीरनी वाणी, कीधो उत्तम काम ॥ ७० ॥
चारित्र लेइने, पहोत्या शिवपुर ठाम ॥
धुर आदि मकाइ, अंत अलक्ष मुनि नाम ॥ ७१ ॥
वळी कृष्णरायनी, अग्रमहिषी आठ ॥
पुत्र वहु दोये, संच्या पुण्यना ठाठ ॥ ७२ ॥
जादवकुळ सतियां, टाळ्यो दुःख उचाट ॥
पहोत्या शिवपुरमें, ए छे सूत्रनो पाठ ॥७३॥
श्रेणिकनी राणी, काली आदिक जाण ॥
दशे पुत्र वियोगे, सांभळी वीरनी वाण ॥ ७४ ॥
चन्दनवाळापें, संयम लइ हुवा जाण ॥
तप करी देह झोंशी, पहोत्या छे निरवाण ॥ ७५ ॥
नन्दादिक तेरे, श्रेणिक नृपनी नार ॥
सघळी चन्दनवाळापें, लीधो संयमभार ॥ ७६ ॥
एक मास संथारे, पहोत्या मुक्ति मोझार ॥
ए नेवुं जणानो, अंतगडमां अधिकार ॥ ७७ ॥

श्रेणिकना बेटा, जालियादिक तेवीश ॥
वीरपें व्रत लेइने, पाळ्यो विश्वावीश ॥ ७८ ॥
तप कठण करीने, पूरी मन जगीश ॥
देवलोके पहोत्या, मोक्ष जाशे तजी रीस ॥ ७९ ॥

काकंदिनो धन्नो, तजी बत्रीशे नार ॥
महावीर समीपे, लीधो संयम भार ॥ ८० ॥
करी छठ छठ पारणां, आयंबिल उच्छित आहार ॥
श्री वीरे वखाण्या, धन धन्नो अणगार ॥ ८१ ॥

एक मास संथारे, सर्वार्थसिद्ध पहुंत ॥
महाविदेह क्षेत्रमां, करशे भवनो अंत ॥ ८२ ॥
धन्नानी रीते, हुवा नवे सन्त ॥
श्री अनुत्तरोववाइमां, भांखी गया भगवन्त ॥ ८३ ॥
सुबाहु प्रमुख, पांच पांचसे नार ॥
तजी वीरपें लीधां, पंच महाव्रत सार ॥ ८४ ॥

चारित्र लेइने, पाळ्यां निरतिचार ॥
देवलोके पहोत्या, सुखविपाके अधिकार ॥ ८५ ॥
श्रेणिकना पौत्र, पौत्रादिक हुवा दस ॥
वीरपें व्रत लेइने, काढयो देहनो कस ॥ ८६ ॥

संयम आराधी, देवलोकमां जई वस ॥
महाविदेह क्षेत्रमां, जाशे लेइ जश ॥ ८७ ॥
बळभद्रना नन्दन, निषधादिक हुवा बार ॥
तजी पचास अंतेउरी, त्याग दिओ संसार ॥ ८८ ॥

सहु नेमि समीपे, चार महाव्रत लीध ॥
सर्वार्थसिद्ध पहोत्या, होशे विदेहे सिद्ध ॥ ८९ ॥
धन्नो ने शालिभद्र, मुनिश्वरोनी जोड ॥
नारीनां बंधन, तत्क्षण नाख्यां त्रोड ॥ ९० ॥

घर कुटुम्ब कबीलो, धन कंचननी क्रोड ।
मास मास खमण तप, टाळशे भवनी खोड ॥ ९१ ॥
श्री सुधर्म स्वामीना शिष्य, धन धन जंबुस्वाम ॥
तजी आठ अंतेउरी, मात पिता धन धाम ॥ ९२ ॥
प्रभवादिक तारी, पहोत्या शिवपुर ठाम ॥
सूत्र प्रवर्तावी जगमा राख्युं नाम ॥ ९३ ॥
धन्य ढढण मुनिवर, कृष्णरायना नंद ॥
शुद्ध अभिग्रह पाळी, टाळी दियो भव फंद ॥ ९४ ॥
वळि खंधक ऋषिनी, देह उतारी खाल ॥
परीसह सहीने, भव फेरा दिया टाळ ॥ ९५ ॥
वळि खंधक ऋषिना, हुवा पांचशे शिष्य ॥
घाणीमां पील्या, मुक्ति गया तजी रीस ॥ ९६ ॥
संभूतिविजय शिष्य भद्रबाहु मुनिराय ॥
चौद पूरवधारी, चन्द्रगुप्त आण्यो ठाय ॥ ९७ ॥
वळी आर्द्रकुमार मुनि, स्थूलभद्र नंदिषेण ॥
अरणिक, अइमुत्तो, मुनिश्वरोनी श्रेण ॥ ९८ ॥
चोविश जिन मुनिवर, सखया अट्ठावीश लाख ॥
उपर सहस्र अडताळीस, सूत्र परंपरा भाख ॥ ९९ ॥
कोइ उत्तम वांचो, मोढे जयणा राख ॥
उघाडे मुख बोल्या, पाप लागे इम भांख ॥ १०० ॥
धन्य मरुदेवी माता, ध्यायो निर्मळ ध्यान ॥
गज होदे पायो, निर्मळ केवळज्ञान ॥ १०१ ॥
धन्य आदीश्वरनी पुत्री, ब्राह्मी सुन्दरी दोय ॥
चारित्र लेइने, मुक्ति गया सिद्ध होय ॥ १०२ ॥
चोवीशे जिननी, वडी शिष्यणी चोवीश ॥
सती मुके पहोत्या, पूरी मन जगीश ॥ १०३ ॥

चोवीसे जिननां, सर्व साधवी सार ॥
अडताळीस लाख ने, आठसें सित्तेर हजार ॥ १०४ ॥
चेडानी पुत्री, राखी धर्मशुं प्रीत ॥
राजेमती विजया, मृगावती सुविनीत ॥ १०५ ॥
पद्मावती मयणरेहा, द्रौपदी दमयंती सीत ॥
इत्यादिक सतीयो, गई जन्मारो जीत ॥ १०६ ॥
चोवीसे जिननां, साधु साधवी सार ॥
गयां मोक्ष देवलोके, हृदये राखो धार ॥ १०७ ॥
ईण अढी द्वीपमां, घरडा तपसी बाळ ॥
शुद्ध पंच महाव्रतधारी, नमो नमो त्रण काळ ॥ १०८
ए यतियो सतियोनां, लीजे नित्य प्रत्ये नाम ॥
शुद्ध मनथी ध्यावो, एह तरणनो ठाम ॥ १०९ ॥
ए यतियो सतियो शुं, राखो उज्ज्वळ भाव ॥
कहे ऋषि जेमल, एह तरणनो दाव ॥ ११० ॥
संवत अढार ने, वर्ष साते शिरदार ॥
शहेर झालोरमांही, एह कह्यो अधिकार ॥ १११ ॥

॥ इति श्री साधुवंदना समाप्तम् ॥

॥ धर्म बिना धूल जन्मारो ॥

(तर्ज-प्रभुजी मारा प्राण-आधारो रे)

सुगुरु की सिखामण धारो रे, धर्म बिना धूल जन्मारो रे ॥टेक॥

अनादि कालथी आतमारे, पा रही कष्ट कलेश ॥
कोईक सुकृत योग से रे, ऊपजाई पुन्य की रेश ॥
यो मिल गयो नर अवतारो रे ॥ धर्म ॥ १ ॥

ऊंचां कुलमें उपनोरे, उत्तम वस्तु संयोग ।
जिनकी आशा करे देवतारे, वो मिल गयो तुझ जोग ॥
जीती बाजी अब थयू हारो रे ॥ धर्म ॥ २ ॥

सात पीढ़ी की नींव दी रे, ऊँची हवेली झुकाय ।
गज घोड़ा रथ पालखी रे, बागों में बंगला बजाय ॥
कीयो तेने जगत पसारो रे ॥ धर्म ॥ ३ ॥

लाखों को धन भेलो कियो रे, तो नहीं आई हैं सान ।
इतो विचार होयो नहीं रे, छोड़ गयो मारो बाप ॥
कोडी नहीं ले गयो लारो रे ॥ धर्म ॥ ४ ॥

कुटुम्ब पोषण कारणें रे, अनरथ करसी अपार ।
यम द्वारे जासी एकलो, कोई नहीं भागीदार ॥
करें क्यों तू कर्म ने कारो रे ॥ धर्म ॥ ५ ॥

कुड कपट करतो सदा रे, पग-पग बोलतो झूठ ।
ममता कर-कर मर रह्यो रे, पुन्य गया सब खूट ।
प्रकट भयो पाप सितारो रे ॥ धर्म ॥ ६ ॥

नाटक गंजीफा खेलमें रे, आधी रात बिताय ।
दुर्बुद्धि का गुलामने, धर्म कर्म नहीं सुहाय ॥
वृथा गयो जन्म तुम्हारो रे ॥ धर्म ॥ ७ ॥

साधुजी सूत्र वांचता रे, टालो देवे जाय ।
शरमा शरमी आ गयो तो, झूक झूक झोला खाय ॥
छाया तेरे आंख अन्धारो रे ॥ धर्म ॥ ८ ॥
भाग्य विना मिलसी नहीं रे, सतगुरु को सहवास ।
पुन्य उदय उस क्षेत्रका रे, झडियों लगे चारों मास ॥
समझ हित बात विचारो रे ॥ धर्म ॥ ९ ॥
जन्म सुधारण कारणे रे, सत गुरू देवे सीख ।
उल्टी जचे थोरे कर्मसु रे, दुर्गति दीखे नजीक ॥
नहीं कोइ दोष हमारो रे ॥ धर्म ॥ १० ॥
चोमासो कीधो खेतीये रे, तेरो वणकी साल ।
मेवाडी मुनि कहे बन्धुओं रे, इण पर कर लीजो ख्याल ॥
तो होवेगा जल्दी सुधारो रे ॥ धर्म ॥ ११ ॥

पंचपरमेष्ठिने नमस्कार ।

जय करनारा जिनवरा, दुख हरनारा देव ॥
पाठ पढुं पहेलो प्रभु, नमन तणो नितमेव ॥ १ ॥
प्रथम नमुं अरिहंतने, बीजा सिद्ध भगवत ॥
त्रीजा श्री आचार्यने, नमुं तजी दश तंत ॥ २ ॥
उपाध्याय उपकारीया, ज्ञान तणा दातार ॥
नमन करुं निर्मळ थवा, भव जळ तारणहार ॥ ३ ॥
साधु सुन्दर लोकमां, साचवीओ शणगार ॥
सघळाने स्नेहे हजो, वंदन वारंवार ॥ ४ ॥
नमस्कार पद पांच छे, पाप तणा हरनार ॥
सर्व जगतनां काममां, मंगळना करनार ॥ ५ ॥